ऋतम्भरा

[संशोधित संस्करण]

डा॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिप्राप्त, भाषाचार्य साहित्यवाचस्पति डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या (चट्टोपाध्याय, चटर्जी) का जन्म कार्त्तिकी पूर्णिमा के दिन २६ नवम्बर सन् १८६० ई० में हावड़ा के निकट शिवपुर में हुआ था। सिख सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता श्री गुरु नानक का जन्म-दिन यही कार्तिकी पूर्णिमा था। आपके वंश-प्रतिष्ठाता पूर्वज काश्यपगोत्रीय वीतराग, सामवेदी कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में थे। कई पीढ़ी पूर्व ईसवी ग्यारहवीं शती के अंत में उत्तर भारत से बंगाल जाकर वहाँ बसे थे। आपके पितामह ईश्वरचन्द्र चाटुर्ज्या ने संस्कृतज्ञ पंडितों के घर में सबसे पहले फारसी तथा अंग्रेजी सीखी थी। आपको १५ वर्ष की अवस्था में माता कात्यायनी देवी का देहांत हो गया था। पिता हरिदास चाटुर्ज्या ने बड़े स्नेह से अपनी छह सन्तानों का पालन और शिक्षण किया था। हरिदासजी एक अंग्रेज़ आफिस में नौकर थे, कान्फिडेन्शल क्लर्क हुए थे। इनको संगीत की अच्छी जानकारी थी। सन् १९४५ में ८४ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हुई। आपकी विश्वविद्यालय तक की शिक्षा कलकत्ते में ही हुई। सन् १९११ में आप कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० ए० (अंग्रेज़ी आनर्स) तथा सन् १९१३ में एम० ए० परीक्षा अंग्रेज़ी में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इन दोनों परीक्षाओं में आपका स्थान विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम था। भाषाओं के अध्ययन की ओर डा० चाटुर्ज्या का प्रारम्भ से ही आकर्षण रहा और एम० ए० में आपने जर्मेनिक भाषाओं—विशेषतः प्राचीन तथा मध्यकालीन अँग्रेज़ी का विशेष अध्ययन किया। इसके साथ-ही-साथ आपने वैदिक संस्कृत तथा यूरोप की प्राचीन भाषाओं—ग्रीक एवं लैटिन का भी प्रारम्भिक

अध्ययन किया। एम० ए० के पश्चात् ही आपको 'बंगला भाषा' के अध्ययन के लिए 'प्रेमचन्द रायचन्द' छात्रवृत्ति मिली। इसी समय आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय का जुबिली पुरस्कार भी प्राप्त किया।

सन् १९१९ में डा० चाटुर्ज्या को 'भाषाशास्त्र' के अध्ययन के लिए भारतीय सरकार की ओर से छात्रवृत्ति मिली और इसके फल-स्वरूप सन् १९१९ से १९२१ तक आप लन्दन विश्वविद्यालय में भाषाशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त रहे। सन् १९२० में आपने लन्दन विश्वविद्यालय से ध्वनिविज्ञान-सम्बन्धी डिप्लोमा तथा सन् १९२१ में वहीं से अपने खोजपूर्ण निबन्ध "बंगला भाषा की उत्पत्ति तथा विकास" पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। लन्दन में आपने प्रसिद्ध ध्वनिशास्त्री प्रो० Daniel Jones डेनियल जोन्स से 'ध्वनि-विज्ञान', डा० F. W Thomas एफ० डब्ल्यू० टॉमस से 'भारोपीय भाषाविज्ञान', डा० L. D. Barnett एल० डी० बार्नेट से 'प्राकृत तथा भारतीय आर्यभाषा', E. Denison Ross सर इ० डेनिसन रॉस से 'फारसी', प्रो० Robin Flower राबिन फ्लावर से 'पुरानी आयरिश' एवं प्रो० Chambers चेम्बर्स तथा Grattan ग्रैटन से 'प्राचीन अंग्रेजी' एवं 'गॉथिक' भाषाओं का अध्ययन किया। सन् १९२१-२२ में डा० चाटुर्ज्या पैरिस विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहाँ आपने प्रो० Jules Bloch झ्यूल ब्लाक, Antoine Meillet आँत्वान् मेइये, Jean Przyluski, झाँ पूशिलुस्कि तथा प्रो० Paul Pelliot पॉल पेलियो के तत्त्वावधान में 'भारतीय आर्य', 'स्लॉव', 'भारोपीय', 'आस्ट्रोएशियाटिक', 'सोग्डियन', "पुरानी खोतनी' एवं 'ग्रीक तथा लैटिन' भाषाओं का गंम्भीर अध्ययन किया।

यूरोप में अपना अध्ययन समाप्त करके सन् १९२२ के नवम्बर में आप भारत लौटे। इसी वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'भारतीय-

भाषाशास्त्र के 'खैरा प्रोफेसर' के पद पर आपकी नियुक्ति हुई। तब से आज तक इसी पद पर कार्य कर रहे हैं। सन् १९२७ में डा० चाटुर्ज्या विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ मलय, सुमात्रा, जावा, बालि तथा स्याम में प्रायः तीन मास तक भ्रमण करते रहे। इस यात्रा में आपने भारतीय कला एवं संस्कृति के सम्बन्ध में विभिन्न-देशों में अनेक भाषण दिए। सन् १९३५ में आप कलकत्ता विश्व-विद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में लन्दन के द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय-ध्वनिविज्ञान-सम्मेलन में सम्मिलित हुए। इसमें आपने भारतीय-शाखा का सभापतित्व भी किया। इसी यात्रा में आपने आस्ट्रिया, हुङ्गरी, चेकोस्लोवेकिया एवं जर्मनी आदि देशों में भी भ्रमण किया तथा बर्लिन विश्वविद्यालय के प्राच्य-विभाग में भी भाषण दिया।

सन् १९३६ में डा० चाटुर्ज्या बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के फेलो निर्वाचित हुए और सन् १९३७ में आप बंगला-साहित्य-सम्मेलन के रंगून-अधिवेशन के सभापति हुए। सन् १९३८ में आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में तीसरी बार यूरोप की यात्रा की। इस यात्रा में आप बेलजियम के गेन्ट नगर की तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि-परिषद्, कोपेनहेगेन के मानव-शास्त्र-सम्मेलन तथा ब्रुसेल्स के अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य-सम्मेलन में सम्मिलित हुए। सन् १९३९ में आप पोलेण्ड के प्राच्य-विभाग के अवैतनिक सदस्य निर्वाचित हुए और सन् १९४६ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के ३४ वें अधिवेशन कराँची के राष्ट्रभाषा-परिषद् के सभापति-पद को आपने सुशोभित किया। इसी वर्ष आप पेरिस की एशियाटिक सोसाइटी तथा इसके दूसरे वर्ष अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी के माननीय सदस्य निर्वाचित हुए। सन् १९४८ में डा० चाटुर्ज्या ने यूरोप की चौथी बार यात्रा की। इस यात्रा में आपने पेरिस-सरकार का प्रतिनिधित्व किया। सन् १९४९—५१ में आपको प्रायः तीन बार अंधों के लिए Braille ब्राइल लिपि के सम्बन्ध में यूरोप की

यात्रा करनी पड़ी। इन अवसरों पर इन्होंने हालैंड, इटली, मिसर और तुर्किस्तान तथा लेबनान की सैर की।

भारत के प्रायः समस्त प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों एवं भारतीय भाषा-साहित्य एवं इतिहास-सम्बन्धी अनुसन्धान में प्रवृत्त संस्थाओं से डा० चाटुर्ज्या का सम्बन्ध है। भारत के भाषाशास्त्रियों में आपका विशिष्ट स्थान है। अभी हाल ही में दक्षिणी एशिया की भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के सम्बन्ध में भाषण देने के लिए आपको अमेरिका के पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय ने आमंत्रित किया है।

भाषाशास्त्र के साथ-ही-साथ डा० चाटुर्ज्या प्राचीनलिपि, मूर्ति, चित्र एवं संगीत-कला के मर्मज्ञ हैं। एशिया एवं यूरोप की संस्कृति के भी आप महान् पंडित हैं। आपके व्यक्तित्व में भारतीय तथा ग्रीक संस्कृतियों का अद्भुत समन्वय है। वास्तव में आप भारत की सच्ची विभूति हैं। भारतीय ऋषि-परम्परानुकूल आप सदैव अपने व्यक्तित्व से तटस्थ रहकर दूसरों का सम्मान करते हैं। छात्ररूप में डा० चाटुर्ज्या के महान् व्यक्तित्व की महत्ता को अनुभव करने का मुझे सौभाग्य मिला है। ऐसे सद्गुरु के चरणों के समीप अध्ययन करने के गौरव में, मैं वस्तुतः अपने संचित सुकर्मों का ही फल मानता हूँ।

भारत की आर्य-भाषाओं के इतिहास, खास करके बंगला के इतिहास की चर्चा करते समय, भारतीय भाषाओं की परंपरा में हिन्दी के महत्त्व पर अध्यापक चाटुर्ज्या के मन में गभीर आकर्षण हुआ। धीरे-धीरे आप हिन्दी-प्रेमी बने, हिन्दी को अपनाया। इनका पहला हिन्दी निबंध "हिन्दी की उत्पत्ति" कलकत्ते के सन् १९२१ के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में पठित हुआ, और "विशाल भारत" की जून १९३१ की संख्या में प्रकाशित हुआ था। इसे पढ़कर हिन्दी के विख्यात लेखक और समालोचक स्वर्गवासी पद्मसिंह शर्माजी ने "विशाल भारत" के तात्कालीन सम्पादक श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी को लिखा था—

"...जून का 'विशाल भारत' मिला। इस अंक में डा॰ सुनीति-कुमारजी चट्टोपाध्याय का 'हिन्दी की उत्पत्ति' लेख बहुत ही अच्छा है। भाषाओं की बड़ी ही सुन्दर मीमांसा है। यह लेख तो पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित होकर हिन्दी वालों के कोर्स में नियत होना चाहिए। हिन्दी के सम्बंध में ऐसा तत्त्वपूर्ण लेख मैंने आज तक नहीं पढ़ा था। मुझे तो यह लेख इसलिए भी पसन्द आया कि भाषाओं की उत्पत्ति के विषय में मेरा भी यही मत है। (यद्यपि मैं अंग्रेज़ी ढंग से इस प्रकार अपने विचार प्रकट नहीं कर सकता था)। क़लकत्ता सम्मेलन की मैं तो इसे सबसे बड़ी सफलता समझता हूँ कि ऐसा महत्त्व-पूर्ण निबंध हिन्दी में हिन्दी पर लिखा गया। इस का खूब प्रचार होना चाहिए। चट्टोपाध्याजी इसे जरा और भी पल्लवित कर दें (उदाहरणादि देकर) तो और भी अच्छा हो। चट्टोपाध्यायजी से एक ऐसा ही निबंध संस्कृत के सम्बन्ध में भी लिखने का अनुरोध कीजिए। यह तो भाषा-विज्ञान के अद्भुत विशेषज्ञ मालूम होते हैं। 'हिन्दी की उत्पत्ति' पढ़कर मैं तो गद्‌गद हो गया। जिस चीज़ की खोज में था, वह मिल गई।...उन्हें मेरी हार्दिक बधाई और धन्यवाद पहुँचाइए।" (नायक-नगला, तारीख २५-६-३१।) इस बधाई को शिरोधार्य कर सुनीतिकुमारजी अपनी शिक्षा की भाषा अंग्रेज़ी और मातृभाषा बंगला के साथ-ही-साथ भारत की होनहार राष्ट्र-भाषा हिन्दी की सेवा में दत्तचित्त हुए। हिन्दी में साहित्य, समाज, इतिहास तथा संस्कृति विषयक बहुत-से निबंध इन्होंने लिखे। हिन्दी की भारत-व्यापिनी प्रतिष्ठा को कायम करने के लिए आपने अनमोल प्रयत्न किया। आप अपने प्रान्त में हिन्दी-प्रचार के काम में वर्षों से लगे हुए हैं—पश्चिम बंगाल राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के आप सभापति हैं। हिन्दी के महत्त्व के विषय पर बहुत-से व्याख्यान इन्होंने दिये, निबंध लिखे। हिन्दी की सेवा के लिए इन्होंने भारत के बाहर; जैसे—पेरिस के आन्तर्जातिक भाषातात्त्विक सम्मेलन में व्याख्यान

दिये, प्रचार किया। भारत सरकार ने तथा हिन्दी की मुख्य संस्थाओं ने इस सेवा को स्वीकार किया है। हिन्दी के सम्बन्ध में कमेटियों में सुनीतिकुमारजी की उपस्थिति बिना मानों काम नहीं चलता। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ने इनकी हिन्दी-सेवा के लिए इन्हें "साहित्य वाचस्पति" उपाधि से सम्मानित किया है। राजस्थानी भाषा पर उदयपुर-हिन्दी-विद्यापीठ में दिये हुए तीन भाषणों पर इनको नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से "रत्नाकर पारितोषिक" दिया गया है। हिन्दी तथा अहिन्दी प्रान्तों के मिलन के लिए सुनीति बाबू का व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा एक स्वर्णशृंखला है।

भाई नर्मदेश्वरजी चतुर्वेदी तथा श्री महादेव साहा के प्रयास-स्वरूप डा० चाटुर्ज्या के हिन्दी निबन्धों के इस संग्रह का प्रकाशन साहित्य-भवन, लिमिटेड की ओर से हो रहा है। इसके लिए वे हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे आशा है कि डा० चाटुर्ज्या की अन्य कृतियाँ भी शीघ्र ही हिन्दी में प्रकाशित होकर राष्ट्रभाषा को गौरवान्वित करेंगी।

अलोपीबाग,
दारागंज, प्रयाग
अक्षयतृतीया, सं० २०००

उदयनारायण तिवारी

अनुक्रम

हिन्दी की उत्पत्ति

हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है, यह तो एक स्वतःसिद्ध बात है। हर काम में, अपने प्रतिदिन के जीवन में हम ऐसा ही देखते हैं। हिमालय के तुषारमंडित गिरिराजस्थित सरल, पीलू और चीड़-वृक्ष की अरण्यावली से दक्षिण-समुद्र के पास कन्याकुमारी और सेतुबन्धु-रामेश्वर के नारिकेल-कुंजों तक, असम और बर्मा के अति-वृष्टिसिक्त 'सेगुन'-वन और हरिद्वर्ण धान्यक्षेत्रों से अफ़गानिस्तान और बलूचिस्तान के दुर्गम वारिहीन मरुपर्वत तक, उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम आसमुद्र हिमाचल समग्र भारतवर्ष की तमाम देशी भाषाओं में एक हिन्दी ही भारतीय जाति की विभिन्न शाखाओं के मनुष्यों में एक दृढ़ और उपयोगी मिलन-शृंखला है। यदि इसका कारण पूछा जाय, तो एक ही बात में हम इसका उत्तर दे सकते हैं। भारतीय सभ्यता का उत्पत्तिस्थान तथा केन्द्र गंगा और यमुना का तीरवर्ती देश आर्यावर्त ही है। आर्यावर्त के श्रेष्ठ अंश मध्यदेश की भाषा हिन्दी है। हिन्दी के प्रसार का पहला मुख्य कारण यही है कि हिन्दी भारत के हृदय-देश की भाषा है। दूसरा कारण है, हिन्दी-भाषियों की उद्यमशीलता। हिन्दी जितने लोगों की स्वाभाविक मातृ-भाषा या घरेलू भाषा है, उससे दूने चौगुने लोगों की शिक्षा, साहित्य और सामाजिक जीवन की भाषा है। सहज जन्मगत अधिकार से पूर्व-पंजाब, मध्यभारत और पछाँह के जो लोग हिन्दी बोलते हैं—चाहे यह हिन्दी अपने विशुद्ध भारतीय रूप में हो, चाहे अपने मिश्रित मुसलमानी रूप 'उर्दू में—और पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, और बिहार प्रान्त के जो लोग साहित्यिक और सामाजिक भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार कर उसे सब कामों में व्यवहार करते हैं, इन दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी-अपनी जीविका की फ़िक्र में समग्र भारतवर्ष

में फैले हुए हैं, और दूसरे प्रान्तों के सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन को आर्यावर्त के प्रभाव से इतना प्रभावान्वित कर रहे हैं कि साथ-साथ आर्यावर्त की भाषा बिना प्रयत्न किये हुए भी सुप्रतिष्ठित हो गई है। हिन्दी को यह उच्च स्थान स्वाभाविक कारणों से प्राप्त हुआ है, इसलिए जब तक आर्यावर्त भारत की संस्कृति का मूल-स्थान रहेगा, तब तक हिन्दी का यह आसन नहीं मिटने का।

ऐतिहासिक और भाषातत्त्व की भी दृष्टि से अगर देखा जाय, तो हिन्दी की व्यापकता और भारत की राष्ट्रभाषा होने के लिए एक हिन्दी ही की योग्यता सब लोगों को माननी पड़ेगी।

अन्ध तिमिराच्छादित प्रागैतिहासिक-युग के अवसान के साथ जिस समय वैदिक-युग के अरुणिमा-मंडित ज्योतिर्मय उषःकाल में भारतीय संस्कृति के सूर्य का उदय हुआ, उस समय हमारी हिन्दी, बंगला आदि आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की आदि जननी वैदिक-भाषा भारत में श्रेष्ठ भाषा थी। भारतीय अनार्य लोगों की अपनी-अपनी पृथक् बोलियाँ थीं, पर वैदिक भाषा के सामने इनमें किसी को कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं मिली। वैदिकोत्तर अर्थात् संहितोत्तर काल में ब्राह्मण-ग्रन्थों का युग आया। पंजाब और मध्यदेश के दक्षिण और पूर्व में आर्य-भाषा का प्रसार हुआ। स्वाभाविक परिवर्तन-धर्म के अनुसार, तथा हज़ारों और लाखों अनार्यभाषियों के आर्य-भाषा को ग्रहण करने के कारण, वैदिक तथा ब्राह्मण-युग की आर्यभाषा भी विशुद्ध नहीं रही ; प्राकृतों का उद्भव होने लगा। भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व ही आदिम या प्राचीन आर्य-भाषा, प्राकृत या मध्य-कालीन अवस्था में पहुँच गई। इसी समय आर्यों के गुरुकुलों में लौकिक साहित्य-भाषा संस्कृत की प्रारंभिक प्रतिष्ठा हुई। पाणिनि आदि बड़े-बड़े व्याकरणकार ऋषियों ने इसका व्याकरण लिखकर इसे चिरकाल के लिए परिमार्जित किया। प्राकृतों के उद्भव होने के समय से ही, लौकिक-संस्कृत, प्राचीन भारत के जनगण की—विशेषतः

ब्राह्मण-शासित समाज की—भाषा हुई। मुहावरे में विभिन्न प्रान्तों की आदि-आर्य-भाषाओं की प्रगति पृथक्-पृथक् रीति से होने लगी। इसी से पृथक्-पृथक् प्रान्तीय प्राकृतों की उत्पत्ति हुई। जिस संस्कृत-भाषा को सारे हिन्दू-संसार ने अपनी धार्मिक और संस्कृति-सम्बन्धी भाषा मान लिया, उसका आधार उदीच्य अर्थात् पंजाब और मध्यदेश की लौकिक बोली ही थी। भगवान् बुद्धदेव के पहले, ब्राह्मण-ग्रन्थों के युग में, ब्राह्मण-सभ्यता का केन्द्र मध्यदेश अर्थात् कुरुपंचाल देश और उदीच्य अर्थात् मद्र, केकय, गंधार आदि देश थे। उन प्रान्तों में तथा अन्तर्वेद की ब्राह्मणादि शिष्ट जातियों में व्यवहृत भाषा यह संस्कृत थी। अस्तु, संस्कृत आर्य-सभ्यता का वाहन या माध्यम स्वरूप होकर इस सभ्यता के साथ तमाम भारतवर्ष में फैली, और भारतवर्ष के बाहर वृहत्तर भारत में—बर्मा, स्याम, कम्बोज, चम्पा, मलय, यवद्वीप, बालिद्वीप आदि में भी—इसका प्रचार हुआ। भारतवर्ष के इतिहास के प्रारम्भ में आर्यावर्त—मध्यप्रदेश अर्थात् हिन्दुस्तान के पछाँह की बोली, संस्कृत के रूप में, सारे भारतवर्ष में गृहीत हो गई। जहाँ तक पता चलता है, संस्कृत का मौखिक रूप सिर्फ पंजाब और अन्तर्वेद में ही प्रचलित था। अन्यान्य प्रान्तों में जब आर्यभाषा फैली, तब इसकी अवस्था बदल गई थी—संस्कृत, प्राकृत हो गई थी।

सारे उत्तर-भारत में जिस समय प्राकृत या प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित हुईं, तब प्रान्तीय प्राकृतों में अन्तर्वेद—विशेषतया ब्रह्मर्षिदेश या कुरुपंचाल की प्राकृत शौरसेनी, सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। संस्कृत-नाटकों में श्रेष्ठ सद्वंशज पात्र बात करने में इस शौरसेनी ही का प्रयोग करते थे। इससे यह साबित होता है कि प्राकृत-युग में शौरसेनी का स्थान क्या था। गाने में महाराष्ट्रीय-प्राकृत का प्रयोग था, यह ठीक है; इसका कारण इतना ही मालूम होता है कि महाराष्ट्रीय-प्राकृत में स्वर बहुत होने से यह शौरसेनी से श्रुतिमधुर मानी जाती थी, और गाने में इसीलिए शायद लोग इसे अधिक पसन्द करते थे।

महाराज अशोक के लेख में मुख्यतः तीन प्रकार की प्राकृत मिली हैं— उदीच्य, लाट-देशीय, और प्राच्य। परन्तु मध्यदेशीय प्राकृत नहीं मिली—मध्यदेश में टोपरा और मेरठ के दो खम्भों पर जो लेख हैं, उनमें पूरब की बोली ही व्यवहार की गई है। महाराज अशोक पूरब के रहने वाले थे, शायद इसी से उनकी प्रान्तिक बोली मध्यदेश में भी प्रयुक्त हुई। भारत के इतिहास में सिर्फ एक ही बार पूरब की बोली ने पछाँह पर चढ़ाई की।

परन्तु महाराज अशोक के समय एक नई साहित्यिक-भाषा भारत से सिंहल में फैली—यह पालि भाषा है। पहले पंडित लोग सोचते थे कि पालि की जड़ पूरब में—मगध में—थी, क्योंकि इसका एक और नाम है 'मागधी'। अब पालि के सम्बन्ध में पंडितों की राय बदल रही है। अब विचार है कि पालि पूरब की नहीं, बल्कि पछाँह की—मध्यदेश की ही बोली थी—शौरसेनी प्राकृत की एक प्राचीन रूपभेद थी। बुद्धदेव के उपदेश पूरब की बोली प्राच्य-प्राकृत में, जो कोशल, काशी और मगध में प्रचलित थी, उसी में प्रकट हुए। फिर इस प्राच्य-प्राकृत से और प्राकृतों में अनुवादित किये गये। मथुरा और उज्जैन की भाषा में जो अनुवाद हुआ, उसका नाम दिया गया 'पालि'। सिंहल में जब इस अनुवाद का प्रचार हुआ, तब वहाँ के लोग भूल से इसे 'मागधी' के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि पालि बुद्धवचन था, और भगवान् बुद्ध ने मगध में अपने जीवन का बहुत अंश बिताया था, इससे बुद्धवचन या पालि से मगध का सम्बन्ध जोड़कर 'मागधी' नाम रखा। सिंहल से ब्रह्मदेश तथा स्याम और कम्बोज में यह पालि भाषा फैली। इस प्रकार दो हजार वर्ष के पहले मध्यदेश की भाषा—जिसे हम हिन्दी का एक प्राचीन रूप कह सकते हैं—बहिर्भारत के बौद्धों की धार्मिक भाषा बनी। यह बात इस युग के पहले की है। ईसवी सदी के प्रारम्भ से संस्कृत के बाद उत्तर में भद्र-समाज में शौरसेनी बोली जाती थी। इसका प्रभाव दूसरी प्राकृत

बोलियों पर भी पड़ा। भाषा-तत्त्व के विचार से ग्रियर्सन आदि पंडितों ने राजस्थान, गुजरात, पंजाब और अवध की प्राकृत बोलियों पर शौरसेनी का विशेष प्रभाव स्वीकार किया है। राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और अवधी के विकास में शौरसेनी ने बहुत काम किया। सिर्फ प्रादेशिक प्राकृतों से इन बोलियों की उपत्ति नहीं हुई, ऐसा विचार होता है।

ईसवी प्रथम सहस्र वर्षों के बीच में प्राचीन भारतवर्ष में एक नवीन राष्ट्र या साहित्यिक भाषा का उद्भव हुआ। यह अपभ्रंश भाषा थी, जो शौरसेनी प्राकृत की एक शैली थी। अपभ्रंश भाषा—यह शौरसेनी अपभ्रंश—पंजाब से बंगाल तक और नेपाल से महाराष्ट्र तक साधारण शिष्ट भाषा और साहित्यिक भाषा बनी। लगभग ईसवी सन् ८०० से १३ या १४ सौ तक शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार-काल था। गुजरात और राजपूताने के जैनों द्वारा इसमें एक बड़ा साहित्य बना। बंगाल के प्राचीन बौद्ध सिद्धाचार्यगण इसमें पद रचते थे, जिनका अन्त में भोटभाषा (तिब्बती) में उल्था हुआ था। इसके अलावा, भारत में इस अपभ्रंश में एक विराट् लोकसाहित्य बना, जिसके टूटे-फूटे पद और गीत आदि हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण और प्राकृत-पिंगल और छन्द-ग्रन्थ में पाये जाते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश की प्रतिष्ठा के कई कारण थे। ईसवी प्रथम सहस्रक की अन्तिम सदियों के राजपूत राजाओं की सभा में यह भाषा बोली जाती थी, क्योंकि यह भाषा उसी समय मध्यदेश और उसके संलग्न प्रान्तों में—आधुनिक पछाँह में—साधारणतः घरेलू भाषा-स्वरूप प्रयुक्त होती थी। द्वितीय कारण यह है कि, इस समय गोरखपन्थी आदि अनेक हिन्दू सम्प्रदाय के गुरु लोग, जो पंजाब और हिन्दुस्तान से नवजाग्रत हिन्दू-धर्म की वाणी लेकर भारत के अन्य प्रदेश में गये थे, वे भी इसी भाषा को बोलते थे, इसमें पद आदि बनाते थे, और इसी में उपदेश देते थे। उसी समय उत्तर-भारत के कनौजिया आदि ब्राह्मण बंगाल आदि प्रदेश

में ब्राह्मण आचार और संस्कृति ले उपनिविष्ट हुए। इन सब कारणों से आज से लगभग एक हजार साल पहले, जिसे हम हिन्दी का पूर्व रूप कह सकते हैं, वही शौरसेनी अपभ्रंश, ठीक उसी प्रकार जैसे आजकल हिन्दी राष्ट्रभाषा बनी है, एक राष्ट्रीय, साहित्यिक तथा धार्मिक भाषा बनी थी।

संस्कृत, प्राकृत और भाषा—भारत की आर्य-भाषा के क्रम-विकास में ये तीन पीढ़ियाँ हैं। संस्कृत आदि-युग की धर्म, राष्ट्र तथा साहित्य की भाषा थी। यह संस्कृत भाषा पंजाब और मध्यप्रदेश की प्राचीन बोली के आधार पर बनी। संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ। प्राकृतों में पालि है। पालि भाषा मगध से सम्बन्ध नहीं रखती, परन्तु शूर-सेन या मथुरा और उज्जैन से; यह मूलतः मध्यदेश ही की भाषा है, इस सिद्धान्त पर आजकल पंडित लोग पहुँचे हैं। पालि के बाद मध्यदेश की भाषा शौरसेनी थी। प्राकृत का अंतिम रूप था, अपभ्रंश। अप-भ्रंश बदलता हुआ, हिन्दी आदि भाषाओं में परिणत हो गया। जिस समय शौरसेनी अपभ्रंश परिवर्तित होकर ब्रज-भाषा (हिन्दी) बन रहा था, उसी समय हिन्दुस्तान में तुर्क और ईरानी मुसलमान आये। पहले पंजाब में इनका अधिकार हुआ, और पंजाब ही में करीब सौ वर्ष उन लोगों ने राज किया। पंजाब के कुछ लोग मुसल-मान बने। फिर पंजाब से खास हिन्दुस्तान पर मुसलमानों की चढ़ाई हुई, और उनकी विजय हुई। मुसलमान देहली में आये, और उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। अफ़गानिस्तान के तुर्की और फारसी बोलनेवाले विदेशी मुसलमान तो थे ही, पर पंजाबी बोलने वाले देशी मुसलमान भी इधर ज्यादा करके आने लगे। पंजाब की बोलियों का मूल शौरसेनी से भिन्न प्राकृत थी, परन्तु शौरसेनी का प्रभाव इन पर बहुत पड़ा। पंजाब में राज करनेवाले विदेशी मुसल-मान थोड़ी-बहुत पंजाबी जानते थे। देहली के आसपास कई पड़ी बोलियाँ प्रचलित थीं, और उनका पंजाबी से कुछ सम्बन्ध था।

हिन्दुस्तान में आकर पंजाबी पर जाटू (बाँगरू), मेवाड़ी, ब्रजभाषा प्रभृति बोलियों का असर कुछ तो अवश्य पड़ा। प्राचीन पंजाबी का आदिम रूप देहली में कुछ बदल गया। भाषा के व्याकरण में बहुत सा पंजाबीपन रह गया, परन्तु स्थानीय बोली के व्याकरण के अनुसार भी रूप आ गये। भाषा को 'हिन्दी' और बाद में 'हिन्दुस्तानी' नाम मिला। शब्द, विशेष करके ब्रज आदि प्रान्तिक भाषाओं से लिये जाने लगे। इस प्रकार उदीच्य और मध्यदेश, अर्थात् पंजाब और हिन्दुस्तान के पश्चिमी प्रान्त की भाषाएँ मिलकर एक नवीन रूप में प्रकट हुईं। साधारणतः हिन्दुस्तानी मुगलों के बदौलत सारे भारतवर्ष में फैली। ब्रजभाषा आदि प्राचीन और साहित्यिक बोलियों के साथ-साथ यह भाषा हिन्दू-साहित्यों में भी व्यवहृत होने लगी। अन्त में कलकत्ता शहर में अंग्रेज पंडितों की चेष्टा से गद्य-साहित्य की भाषा खड़ीबोली हिन्दी ही हो गई। इस समय हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है—उत्तर-भारत की संस्कृतिमूलक प्रगति का एक प्रधान वाहन या साधन या माध्यम बनकर इस भाषा की जय सर्वत्र हो रही है।

ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उदीच्य और मध्यदेश—पंजाब और पछाँह—विशेष करके मध्यदेश में—भारतीय आर्य-सभ्यता ने अपनी विशेषताएँ प्राप्त कीं, और इन प्रान्तों की भाषा युग-युग में सर्वजनगृहीत और सर्वजनसमादृत हुई—संस्कृत, पालि, शौरसेनी, अपभ्रंश, ब्रजभाषा; फिर शौरसेनी प्रभावयुक्त पंजाब की बोली, हिन्दुस्तान में आकर शौरसेनी की दुहिता स्थानीय ब्रज आदि बोलियों से मिल-जुलकर हिन्दुस्तानी या हिन्दी बनी। इस प्रकार हिन्दी को वर्तमान मर्यादा मिली। मध्यदेश की भाषा की प्रतिष्ठा भारत के इतिहास की एक प्रधान और साधारण बात है। काल की गति से मूल आर्य-भाषा ने संस्कृत, पालि, शौरसेनी, अपभ्रंश इत्यादि रूप बदलते-बदलते आखिर हिन्दी का रूप ग्रहण किया।

प्राचीनकाल में भारतीय सभ्यता की विशिष्ट वस्तुएँ (यानी हिन्दू-सभ्यता में जो कुछ श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं) उन सबका उद्भव आर्यावर्त ही में हुआ था। मध्य-काल में जब मुसलमान सभ्यता आई, तब हिन्दू-सभ्यता से उसका मिश्रण आर्यावर्त में हुआ। आर्यावर्त की भाषा हिन्दी में अरबी, फारसी और तुर्की का शब्द-भंडार इस मिश्रण का फल है। इस मिश्रण से भारतीय सभ्यता ने नवीन रूप पाया।

प्राचीनकाल के धर्म, राष्ट्र तथा साहित्य की भाषाओं के साथ हिन्दी का सम्बन्ध विचार करने से हिन्दी का इतना प्रचार स्वाभाविक ही मालूम होगा। ऐतिहासिक कारण, और हिन्दी भाषा व्यवहार करने वालों की नानामुखी कर्मशक्ति के सिवा, हिन्दी में कुछ ऐसे गुण हैं जिनसे यह एक श्रेष्ठ भाषा कही जा सकती है। हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, जिन्होंने इस भाषा को अपनाया है, उनकी राय क्या होगी, इसका पता हमें नहीं, पर एक महाराष्ट्रीय मित्र ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की कि, "हिन्दी में जो गुण हैं, उनमें से एक यह है कि हिन्दी 'मर्दानी जबान' या 'पुरुष की बोली' है।" मैं बंगाली होकर अपने महाराष्ट्रीय मित्र की इस राय का पूरा समर्थन करता हूँ। आधुनिक हिन्दी के ओज-गुण के कई कारणों में से इसकी संयुक्तव्यंजनबाहुल्यता एक प्रधान कारण है। 'उन्का', 'देख्के', 'चल्ता', 'हाथ्में', इत्यादि साधारण पद में संयुक्त वर्ण से शब्दोच्चारण में जोर आ जाता है—शब्द पर धक्का सा देकर संयुक्तध्वनि इसे जाग्रत और उद्यमपूर्ण बना देती है। मेरी मातृभाषा के पदसमूह इतने जोरदार नहीं होते। विशेषकर साहित्यिक बंगला में स्वर बाहुल्य के कारण मिठास आती है; पर वैसा जोर नहीं रहता, जैसे 'उहार' या 'ओर', 'देखिया' या 'देखे', 'चलितेछे' (चालू घरेलू बंगला में संयुक्त-व्यंजन आ गया है—'चल्छे'), 'हाते', 'मने' इत्यादि। पुरानी हिन्दी में हलन्त उच्चारण बहुत ही कम होता था, सब स्वरवर्ण उच्चारण किये जाते थे। इससे ओजशक्ति कुछ कम होती थी; पर

स्वरवर्ण के पूर्ण उच्चारण होने के कारण एक मनोहर मधुरता से भरा हुआ गाम्भीर्य आ जाता था। विशेषतः ध्रुपद आदि गाने में तानसेन आदि प्रमुख संगीतकारों की वाणी से इस बात का प्रमाण मिलेगा। हिन्दी उच्चारण में और एक विशेष गुण है। इसमें सब ध्वनियों का प्रयत्न के साथ सुस्पष्ट उच्चारण किया जाता है। बंगला आदि दूसरी भाषाओं में बहुधा अस्पष्ट उच्चारण की कुरीति चली है। इसी से 'नाइहर' या 'नैहर', 'बहनोई', 'अखाड़ा', 'बनवाई', 'कन्हैया', 'रखवाल', 'मौसी', 'साँप', आदि शब्द के 'नायेर', 'बोनाइ', 'आखड़ा', 'बानी', 'कानाइ', 'राखाल', 'मासी', 'सँप' इत्यादि बंगला प्रतिरूप बन गये।

उच्चारण के अलावा, हिन्दी की शब्द-सम्पत्ति इसका एक और गुण है। प्राकृत से प्राप्त अनेक शब्द हिन्दी में विद्यमान हैं, मानो इतने प्राकृतज शब्दों का संरक्षण दूसरी किसी आर्यभाषा में हो ही नहीं सका। देहातों में सहस्रों उपयोगी प्राकृत शब्द मिल सकते हैं, जो साहित्य में लाने के योग्य हैं। प्रकृतज शब्द छोड़िये, तो देखिये हिन्दी संस्कृत के समग्र शब्द-कोष की अधिकारिणी बनी है। संस्कृत शब्दों को हम सम्भाव्य हिन्दी शब्द कह सकते हैं। फिर, उर्दू या मुसलमानी हिन्दी की बदौलत, फारसी-अरबी-शब्द-कोष से भी हिन्दी अपनी मालगुज़ारी वसूल कर सकती है। प्राकृतज या विशुद्ध हिन्दी, संस्कृत और फारसी—इन तीन प्रकार के शब्दों की मिठास या मिष्टता या शीरीनी, हिन्दी की शक्ति तथा गौरव बढ़ा रही है। संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्द-भंडार हिन्दी के लिए खुले रहने से, हिन्दी किसी की परवाह नहीं करती। सामाजिक और गृहस्थजीवन की सब बातें केवल प्राकृतज शब्दों से ही हिन्दी में अच्छी तरह से बोली जा सकती हैं। यह सिद्धान्त 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में श्री हरिऔधजी ने प्रमाणित किया है।

हिन्दी के इतने गुण होते हुए भी, इसे मातृ-भाषा रूप में

लाभ करने का जन्म-सौभाग्य जिसको नहीं मिला, उसके लिए हिन्दी का व्याकरण कठिनाइयों से भरा होता है। एक तो मुश्किल है हिन्दी का लिंग-विचार। सुनते हैं, इसमें श्रेष्ठ हिन्दी विद्वानों का भी एक मत नहीं है। हिन्दी की इस स्वतन्त्रता ने इस विषय में भाषा को अराजकता में डाल दिया है। 'भात' पुल्लिंग शब्द है और 'दाल' स्त्रीलिंग, 'पुस्तक' स्त्रीलिंग और 'ग्रन्थ' और 'काग़ज़' पुल्लिंग। 'अग्नि, मृत्यु, वायु'—इन सबको इस कलियुग में हिन्दी में स्त्रीत्व की प्राप्ति हुई है। हिन्दी अच्छी तरह से अगर सीखना चाहते हैं, तो संस्कृत, व्याकरण को भूल जाइये। इसके अलावा, शब्द-रूप में, मौलिक रूप और सामान्य रूप, और 'का' और 'के' का दुरतिक्रमणीय झगड़ा भी है। लिंगविभ्राट और शब्द-रूप की कठिनाई से बेचारे हिन्दी-शिक्षार्थी जब किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं, तब क्रिया-पद के कर्मणि और भावे प्रयोग आकर उसे खतम कर देते हैं।

हिन्दी के व्याकरण को कुछ सरलतर और तर्कशास्त्र-सम्मत बनाने की आवश्यकता है। हमारा सिद्धान्त यह है कि भविष्य-काल का राजा 'गण-महाराज' इतनी सूक्ष्मता नहीं मानेगा। इनक़लाब जब सचमुच ज़िन्दा होगा और मज़दूर तथा किसान जब भाषा के सुधार का काम स्वयं ही अपने हाथ में ले लेंगे, तब चालू और बज़ारू, गँवार और देहाती तथा खड़ी बोली और पड़ी बोली सब एकाकार होकर एक नई जन-भाषा बन जायगी।

जनतन्त्र के अनुकूल हिन्दी का एक रूप अब भी विद्यमान है। कलकत्ता महानगरी में नई शैली के हिन्दी-गद्य-साहित्य का पहले प्रचार हुआ, पर यहाँ अनपढ़ लोग जिस हिन्दी को बोलते हैं, उसे हिन्दी के गणतान्त्रिक रूप के सिवा क्या कहूँ! कलकतिया बंगाली दो ज़बानें जानते हैं; एक, अपनी मादरी-जबान बंगला, और दूसरी-कलकत्ते की बज़ारू हिन्दी। बचपन से अपनी मातृभाषा के साथ-साथ हमें इसका व्यवहार करना पड़ता है। मैंने इस टूटी-फूटी हिन्दी के

स्वरूप की कुछ आलोचना अन्यत्र की है। इस स्वरूप की मौलिक विशेषता यह है कि व्याकरण के नियम, शब्द, धातु आदि के रूप, प्रत्यय प्रभृति जितने कम व्यवहार किये जा सकें, सिर्फ उतने ही व्यवहार में लाये जायँ, और स्वतन्त्रता-पूर्वक बंगला शब्द और वाक्य रीति का प्रयोग हो। इस कलकतिया हिन्दी को कलकत्ते के उड़िया, मैथिल, भोजपुरी, मारवाड़ी, पंजाबी आदि सब प्रवासियों ने अपनाया है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा शुद्ध हिन्दी बिगड़ कर इसका संगठन हुआ। सीखने से भूलना अधिक कठिन है। इधर शुद्ध हिन्दी के साथ परिचय होने का मौका नहीं मिलता, उधर जिन्दगी-भर बज़ारू हिन्दी के सिवा प्रतिदिन का काम नहीं चलता—हम करें क्या ?

जिसके पास शक्ति और सौभाग्य हो, उसे नम्र होना चाहिए। हिन्दी-भाषियों का उद्यम और उनकी कर्मशीलता ही नहीं, बल्कि उनकी नागरिकता और सौजन्य, उनकी संस्कृति और मानसिक उत्कर्ष हिन्दी-प्रचार के प्रबल कारणों में हैं। भारत के लोगों ने हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' मान लिया है ; बङ्गला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तामिल इत्यादि घरेलू भाषा या प्रादेशिक भाषाएँ हो सकती हैं ; पर एकता-विधायिनी भाषा और भारत के संयुक्त राष्ट्र की माध्यम हिन्दी ही हो सकती है, इसे आज अधिकांश लोग मानते हैं। शुद्ध हिन्दी बोलना सहज नहीं, रातोंरात शुद्ध हिन्दी सीखना भी कठिन है। बहुत से लोग टूटी-फूटी हिन्दी बोलने में शरमाते हैं। अशक्यताहेतु यदि कोई किसी राष्ट्र या धर्म सम्बन्धिनी सभा में हिन्दी में व्याख्यान न दे सके, पर हिन्दी से अपना प्रेम प्रकट करे, तो उससे धैर्य के साथ व्यवहार करना उचित होगा ; और यह गंगातीर की आर्य-सभ्यता के सौजन्य के अनुसार ही है। पर ऐसी अवस्था में 'हिन्दी' 'हिन्दी' 'हिन्दी' का नारा लगाकर बेचारे को यदि तंग किया जाय, और उसे अंग्रेजी में या अन्य किसी प्रान्तीय भाषा में बोलने न दिया जाय, तो वह हिन्दी के प्रसार के अनुकूल नहीं, बल्कि विपरीत होगा। हमें आत्म-परीक्षा

करनी चाहिये। अनजाने 'लिंग्विस्टिक इम्पिरियलिज़्म' या भाषागत साम्राज्यवाद के पुरोहित हम न बनें—ज़ुल्म या बलात्कार से हिन्दी प्रचार की चेष्टा नहीं होनी चाहिए।

खैर, हिन्दी के जो गुण और कठिनाइयाँ हों, सो हों, पर यह सबको मानना पड़ेगा कि दुनिया के अव्वल दरजे की अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में हिन्दी का स्थान है। अंग्रेज़ी, उत्तर-चीनी, जर्मन, रूसी, स्पेनिश फ्रांसीसी, अरबी, फारसी, मालय आदि भाषाओं में हिन्दी का नाम लेना चाहिए। संख्या के विचार से अंग्रेजी और उत्तर-चीनी के बाद हिन्दी का स्थान है; श्रुतिमाधुर्य, ज़ोर, कार्यशक्ति आदि में हिन्दी एक अनोखी भाषा है। ऐसी भाषा हमारा गौरवस्थल है।

मैं हिन्दी से बड़ा प्रेम रखता हूँ। यूरोप-प्रवास के समय फ्रांस या जर्मनी में कहीं किसी भारतीय छात्र को दूर से मैं देखता, तो उससे मिलने जाता, और सबसे पहले हिन्दी में उससे प्रश्न करता—"क्या भाई, हिन्दुस्तानी हो?" जिससे बात करता, अगर वह उत्तर-भारतीय होता, तो हिंन्दी ही में मुझसे बात करता; और यदि वह दक्षिणी होता, भाव से मेरी बात समझ लेता और यदि हिन्दी नहीं जानता, तो अंग्रेज़ी में माफ़ी माँगता। अपने मित्र और छात्रों में मैं हिंन्दी भाषा और साहित्य का गुण-गान किया करता हूँ। कबीर के पद और तुलसी के रामायण को तो मैंने नित्यपाठ्य-ग्रंथ-सा बना रखा है। बहुत दिनों से इन दोनों विश्व-साहित्य के मुकुटमणियों का पाठ किया करता हूँ।

बंगाल में हिन्दी का प्रचार हो, बंगाली सज्जन भी हिन्दी भाषा और साहित्य से परिचय प्राप्त कर पार्थिव और आध्यात्मिक लाभ उठावें, यह मैं सर्वान्तःकरण से चाहता हूँ; बंगाल की राजधानी कलकत्ते से हिन्दी का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। यदि कलकत्ते को हिन्दी की आधुनिक गद्यशैली की जन्मभूमि कहा जाय, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। हमारी बंगाली जाति के लिए यह बड़े अफसोस की बात है

कि हिन्दी ऐसी भाषा से वे यथोचित शक्ति और आनन्द प्राप्त नहीं कर सके। इसके कारण निर्धारण होने चाहिए। रोग का निदान और कारण मिलने से इलाज ठीक हो सकता है। मेरे विचार में तो एक कारण यह है कि, इधर हिन्दी के उच्च शिक्षित सज्जनों का बहुत कम शुभागमन होता है। बिहार और उत्तर प्रदेश के पूरब के जो आम लोग रोजी के लिए इधर आते हैं, वे स्वयं शुद्ध हिन्दी नहीं बोल सकते—उनकी व्यवहृत खिचड़ी बोली, साहित्यिक और शुद्ध हिन्दी के प्रचार का प्रधान अन्तराय होती है।

पर अवसर अब शुभ है। बंगाल की शिक्षित जनता में हिन्दी का आदर होने के लिए कांग्रेस सरकार से कुछ मदद मिल सकती है। हिन्दी-प्रचार के विशेष साधन इस काम के लिए संगठित समितियों के द्वारा विचार लिये जा सकते हैं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आदि के अधिवेशनों से भी यह काम आगे बढ़ सकता है। हमारे अपने प्रान्त में हिन्दी के प्रचार का मैं हार्दिक भाव से स्वागत करता हूँ।

—

चालू हिन्दी

हिन्दी या हिन्दुस्तानी का व्याकरण, जो सबसे पहले मेरे हाथ आया, वह एक पतली और छोटी-सी किताब थी, जिसे किसी अंग्रेज ने खासतौर पर हिन्दुस्तान में नये आये हुए गोरे अंगरेजों के लिए लिखा था। आज से कोई अट्ठाइस-उनतीस साल पहले, जब मैं स्कूल में विद्यार्थी था, तब मैंने उसे गुदड़ी बाज़ार के पुरानी किताबों के ढेर से चुनकर चार पैसे में खरीदी थी। किताब खरीदने के पहले मैंने हिन्दी के व्याकरण पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया था, क्योंकि कलकत्ते के अन्य बङ्गाली लड़कों की भाँति मैं थोड़ी-सी बजारू हिन्दी जानता था, जो इस शहर में काम चलाने के लिए काफी थी। परन्तु मैंने जब इस व्याकरण को पढ़ा, तब मेरे मन में भाषा-सम्बन्धी खोज का नया प्रभाव पड़ा। यह छोटी-मोटी किताब निहायत किफायत के साथ लिखी गई थी। इसमें केवल रोमन लिपि का प्रयोग था और शब्द तथा धातुओं के रूप हायफन (संयोग चिह्न) के द्वारा विशेष विश्लेषण करके दिखाये गये थे। ऐसी पुस्तक पढ़ने में मुझे बहुत आसानी पड़ी, क्योंकि मैंने उस समय तक देवनागरी अच्छी तरह नहीं सीखी थी और उर्दू-लिपि का पढ़ना भी नहीं जानता था। खैर, इस छोटी-सी किताब से "का, की, के, को" इन प्रत्ययों या कर्म-प्रवचनीय अनुसर्गों का प्रयोग सीख लिया। मैंने देखा कि हिन्दी में उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनाम दो हैं "मैं" और "तू"। ये हमारे यहाँ प्रचलित बाज़ारू हिन्दी में व्यवहृत नहीं होते, परन्तु हमारी मातृ-भाषा बंगला के ग्राम्य सर्वनाम "मुइ, तुइ" से मिलते हुए जान पड़ते हैं। हिन्दी में शुद्ध प्रयोग है—"मेरी बात," परन्तु हम आमतौर पर बोलते हैं—"मेरा या हमारा बात"। यह भी विदित हुआ कि भविष्य-काल की क्रिया के शुद्ध रूप हिन्दी में "मैं जाऊँगा—हम

जायेंगे, तू जायगा—तुम जाओगे, वह जायगा—वे जायेंगे " होते हैं। शुद्ध हिन्दी के सम्बन्ध में मैंने जो खोज की, उसका प्रभाव मेरे चित्त पर बहुत अधिक पड़ा ; क्योंकि ऊपर लिखी व्याकरण मिलने से कई दिन पहले, स्कूल से आते समय, दो साहबों को हिन्दी बोलते सुना था। कलकत्ते की एक सड़क को खोद कर कई मजदूर पाइप बिछा रहे थे। इन कुलियों में कुछ बिहारी और कुछ हिन्दुस्तानी—यू० पी० के रहनेवाले थे, जो हमारे यहाँ " पश्चिमी " या पश्चिमवाले कहलाते हैं। इन मजदूरों के साथ दो " साहब " थे, जिनमें एक तो लाल मुँह का अंग्रेज और दूसरा काला फिरंगी था। ये सब आपस में हिन्दी बोलते थे। मैंने सुना कि अंग्रेज बहुत विचार कर कहता है—" हम जायगा, टुम जायगा, वो जायगा, हम सब कोई जायगा "। इतना ही उस समय मैंने सुना। इसके पूर्वापर-सम्बन्ध का मुझे कुछ पता नहीं था। कहा जाता है कि हम हिन्दुस्तानी लोग दार्शनिक विचारों की ओर झुकते हैं। यह बात बिल्कुल सत्य है। यद्यपि मैं उस समय बारह-तेरह साल का बालक था, परन्तु मैं सोचने लगा—हम लोग कहाँ जायँगे ? यह भी चिन्ता हुई कि, हम लोग कहाँ से आये हैं ? हमें इन बातों का कभी पता लगेगा या नहीं, यह शंका उत्पन्न हुई। अस्तु। जब मैंने उस व्याकरण का अवलोकन किया और धातु के रूप देखे, तब विदित हुआ कि कलकत्ते में हम—मैं और वह अंग्रेज सब, " जाऊँगा, जायँगे, जायगा, जाओगे " के बजाय केवल एक रूप " जायगा " से काम चलाते हैं। उस समय हमें यह ज्ञान हुआ कि अच्छी तरह हिन्दी सीखने का प्रयत्न किये बिना कलकत्ते की सड़कों और दूकानों पर हम जो हिन्दी बोलते हैं, वह शायद व्याकरण और उत्तर-भारतीय पढ़े-लिखे लोगों की दृष्टि में अशुद्ध है ; परन्तु हमें यह भी विदित हुआ कि यह बंगाल की एक जीवित भाषा है, जिसकी सहायता से, बिना किसी प्रकार की कठिनाई के, हम अपने मनोभाव व्यक्त कर लेते हैं।

सकता। एक तो शुद्ध हिन्दी और प्राकृत से उत्पन्न हिन्दी-शब्दों में प्रायः प्रत्ययों का चिह्न कुछ नहीं दिखायी देता—जैसे "बात, काम, हाथ, सड़क, आग, चाँद, घी, घोड़ा", इत्यादि; दूसरे, यहाँ अप्राणि-वाचक नाम भी पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग गिने जाते हैं। यह प्रथा फ्रांसीसी आदि भाषाओं से मिलती जुलती है। जैसे फ्रांसीसी में Le Couteau "ल्यो कुतो" (=छुरी) पुंल्लिङ्ग, La Fourchette. "ला फुर्शेत्" (=काँटा) स्त्रीलिङ्ग, इत्यादि। हिन्दी के लिंग-भेद का कारण हिन्दी की पूर्व अवस्था प्राकृत में मिलेगा। संस्कृत का प्रत्ययाश्रयी लिंग-विचार उत्तराधिकार-सूत्र से प्राकृत को मिला था; और प्राकृत के नियम हिंदी में आ गये। सिलसिला या परंपरा ठीक है, परन्तु परिवर्तन का स्वरूप भाषा-प्रवाह के आवर्त्त में छिप गया है। इससे अधिक कहीं-कहीं संस्कृत तथा प्राकृत की धारा, अपभ्रंश या प्राग्-हिन्दी में विपर्यस्त हो गयी है। संस्कृत में "वार्त्ता" आकारान्त स्त्री-लिंग शब्द था। "वार्ता" से प्राकृत में स्त्रीलिंग "वत्ता" शब्द का उद्भव हुआ। "वत्ता" से अपभ्रंश "वत्त" भी स्त्री-लिंग था, और "वत्त" से "बात" हिंदी शब्द निकला। यही स्त्री-लिंग का प्रयोग आदि-आर्य, मध्य-आर्य तथा नवीन-आर्य हिन्दी में अविकृत रूप में रह गया।

इसी तरह ईरानी भाषा में "पोस्त" शब्द, लिखने के लिए तैयार किये गये चमड़े को कहते हैं। इसी से संस्कृत-स्त्रीलिंग शब्द "पुस्तिका" उद्धृत हुआ। "पुस्तिका" से प्राकृत "पोत्थिआ", अपभ्रंश "पोत्थिअ" और हिंदी "पोथी" बना। "पोथी" शब्द का स्त्रीलिंग होने का कारण, इसके मूल रूप "पोत्थिआ" शब्द पर विचार करने से मिलेगा। फारसी "किताब" (जो मूल रूप में अरबी का शब्द है), हिन्दी में आया, और हिन्दी-स्त्रीलिंग शब्द "पोथी" के प्रतिशब्द स्वरूप "किताब" शब्द भी स्त्रीलिंग बना क्लीबलिंग का "पुस्तक" शब्द संस्कृत से हिन्दी में आने पर 'पोथी' के लिंग के

अनुसार अपना लिंग बदल कर स्त्रीलिंग शब्द बना। परन्तु 'ग्रंथ' शब्द, आधुनिक हिन्दी पर संस्कृत के नवीन प्रभाव के साथ आया, और इसीलिए उसे स्त्रीलिंग में परिवर्तित नहीं होना पड़ा। भाव या वस्तुवाचक शब्दों का लिंग कहीं-कहीं परिवर्तित हो गया है; जैसे— संस्कृत "अग्नि" (पुल्लिंग) से "आग" (स्त्रीलिंग) (शायद "अग्नि-शिखा" ऐसे शब्द के प्रभाव के कारण); संस्कृत "मृत्यु" (पुल्लिंग) से प्राचीन हिन्दी शब्द "मीच" (स्त्रीलिंग) हुआ। पुरुष और प्रकृति के भाव या गुण वस्तुओं पर आरोपित करके भी अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग निर्णीत किया गया। परन्तु हिन्दी में ऐसे भी बहुत-से शब्द हैं, जिनके लिंग का कारण निर्धारित करना कठिन है; जैसे—"चावल, चना, समोसा, भात, हलवा", पुल्लिंग; और "दाल, भाजी, पूड़ी, मिठाई", स्त्रीलिंग। क्षुद्रता या लघुतावाचक दीर्घ-ईकारांत शब्द भी स्त्रीलिंग होते हैं। उसका कारण यह है कि स्त्रीवाची या क्षुद्रतावाची शब्द में प्रत्यय रूप से जो दीर्घ "ई" मिलती है, उसका उद्भव संस्कृत के स्त्रीलिंग प्रत्यय "इका" से है। ऐतिहासिक तथा भाषा-तात्त्विक कारण चाहे जो हो; परन्तु यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी का लिंग-भेद कठिनाइयों से भरा है, और साधारण बुद्धि के लिए इसका रहस्य दुर्बोध्य, अबोध्य है। "चील" स्त्री-वाचक क्यों है? "हंस" और "कौआ" पुल्लिंग क्यों है? ये प्रश्न ऐसे हैं, जिनसे हिन्दी सीखनेवाला लिंग-भेद के गोरखधन्धे में हैरान होता है। इस हैरानी से बचने के लिए साधारण लोग हिन्दी बोलते समय लिंग-भेद पर ध्यान ही नहीं देते, और यहाँ तक होता है कि स्त्रीलिंग का व्यवहार ही नहीं करते। स्त्री-वाचक विशेषण और क्रियापद भी साधारणतया कम व्यवहृत होते हैं, और षष्ठी विभक्ति के "की" प्रत्यय के स्थान पर "का" का ही अधिक चलन दिखलाई पड़ता है।

वर्तमान हिन्दी-लिंग-रीति प्राचीन लिंग-रीति का एक ध्वंसावशेष है। यह आधुनिक मनन-शैली के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। मनो-

भावों को प्रकाशित करना भाषा का मुख्य उद्देश्य है। इस कार्य में हिन्दी का लिंग-भेद व्यर्थ और अनावश्यक है। "गैया आयी", "गाड़ी कब आयेगी", "रूस देश की रानी" और "रघुकुल-रीति सदा चली आई" के स्थान में यदि "गैया आया", "गाड़ी कब आयगा", "रूस देश का रानी" और "रघुकुल रीति सदा चला आया है" बोला जाय, तो इसमें भाषा की कुछ भी हानि नहीं है। पन्द्रह करोड़ लोग, जिनमें हिन्दी प्रचलित है, उनमें कम से कम आठ करोड़ लोग व्याकरण और लिंग का विचार किये बिना हिन्दी बोल लेते हैं।

(२) शब्द-रूप में कर्ता से भिन्न कारकों के विशेष रूप की कोई ज़रूरत नहीं है, विशेषकर एक वचन में। "घोड़ा—घोड़े पर, घोड़े से" इत्यादि के स्थान में बोल-चाल की हिन्दी में "घोड़ा पर, घोड़ा से" ऐसे प्रयोग अधिक स्वाभाविक मालूम पड़ते हैं। बहुवचन के रूपों में प्रायः विभक्त्यन्त रूप से संयोग मूलक रूप ही अधिक प्रचलित है; जैसे—"घोड़ा—घोड़े, लाठी—लाठियाँ" के स्थान पर "घोड़ा—सब, लाठी—सब लाठी" या लाठी, सब" इसलिए बहुवचन के कर्ता से भिन्न कारकों के रूप, जैसे "घोड़ों, लाठियों" का व्यवहार बोल-चाल की हिन्दी में बहुत कम है। "यों"-प्रत्ययान्त रूप को वर्जित करने से कुछ हानि नहीं है। कर्ता से भिन्न कारकों के लिए सम्बन्ध-पद की विभक्ति या अनुसर्ग "का" का जो परिवर्तन होता है, उसकी भी आवश्यकता नहीं; जैसे बोल-चाल की हिन्दी में अक्सर लोग बोलते हैं—"राम का लड़का का" (=राम के लड़के का), "हमारा वास्ते" (=मेरे वास्ते या हमारे वास्ते), "उसका पहिले" (=उसके पहले, इत्यादि। अच्छी तरह हिन्दी सीखे बिना "का-के-की" का व्यवहार करना कठिन होता है। परन्तु हाँ, "(इस) के लिए, (उस) के वास्ते, (इस) के अतिरिक्त" इत्यादि वाक्यांशों में जो अनुसर्ग

" के " विद्यमान है, उसका प्रयोग चालू हिन्दी या बोल-चाल की हिन्दी में अधिकतर सुनाई पड़ता है।

(३) बोल-चाल की हिन्दी में क्रिया-पद का वचन-भेद नहीं माना जाता; जैसे—" हम है, यह है, वह है वे-लोग है; हम था, तुम था; तुम - लोग आया; आप आयेगा, आप - लोग आयेगा " इत्यादि। कर्तृपद मौजूद रहने से बहुवचन की आवश्यकता नहीं होती। इसके अलावा, क्रिया-पद में एक ऐसी विशेषता है जिसने " साधु-हिन्दी " को कठिन ज़बानों में रख दिया है; वह है, सकर्मक क्रिया के अतीत काल में " कर्मणि प्रयोग " और " भावे-प्रयोग।" जैसे " राम ने भात खाया, राम ने रोटी खाई " (कर्मवाच्य में प्रयोग), और " राम ने गोपाल को मारा" (भावे प्रयोग)। कर्मणि प्रयोग में क्रिया-पद स्त्री-लिंग में तथा बहुवचन में रूपान्तरित हो जाता है; इसलिए उसका शुद्ध प्रयोग करना मुश्किल होता है। आम तौर पर बोल-चाल की हिन्दी में लोग बोलते हैं—" राम आया, राम और उसका भाई आया; राम भात खाया, राम रोटी खाया; राम गोपाल को मारा।" ऐसे वाक्यों में क्रिया का अतीत रूप सिर्फ कर्त्तरि या कर्तृवाच्य में ही होता है। जैसे अकर्मक क्रिया के अतीत में। ऐसे सरल प्रयोगों से भाषा की शक्ति का कुछ भी ह्रास नहीं होता, और साथ-ही-साथ भाषा सरल हो जाती है।

हमारा कथन यह है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का साहित्यिक या शुद्ध रूप तो है ही, परन्तु उसकी छाया में उसका जो लौकिक या चालू रूप जन-साधारण में प्रचलित है और जिसे तमाम भारत में आबाल-वृद्ध-वनिता राजा से लेकर रंक तक सब लोग थोड़ा बहुत समझते और बोलते हैं, उसे राजनीतिक जीवन तथा साहित्य में हिन्दी का एक लघु रूप स्वीकार किया जाय। " साधु-हिन्दी " अभी ऐसी अवस्था में है, जिसे हम अंग्रेजी में High Dialect, Literary Dialect " हाई डायलेक्ट, लिटरेरी डायलेक्ट " कहते हैं। टूटी-फूटी बोलचाल

की हिन्दी को हम Colloquial Dialect "कालोक्विअल डायलेक्ट" कह सकते हैं। यह बोलचाल की हिन्दी—"कालोक्विअल डायलेक्ट", भारतीय प्रजा जन की बोली है। आधुनिक युग में गण महाराज अपना सिर ऊँचा कर रहे हैं। उनकी वाणी, बाजारू हिन्दी, भारत के संयुक्त राष्ट्र की "गण-वाणी" बनेगी। Vox Populi Vox Dei—गण की वाणी ही देवता की वाणी है। भावी भारत के लिए जन या गण-वाणी देव-वाणी भले हो न हो, साहित्य की वाणी ज़रूर होगी! गण महाराज अभी "इनक़लाब ज़िन्दाबाद" और "बोलो भाई मजदूरों की जय" पुकार रहे हैं। "ग़लते आम (या अवाम) फसीह् बह सहीह्" इस नीति को हमें मानने की आवश्यकता है, विशेषतः भाषा के सम्बन्ध में। "महाजनो येन गतः सपन्थाः"-जनता जिधर जाती है, वही सच्ची सड़क है। बोलचाल की हिन्दी या चालू हिन्दी सचमुच में भारत की जीवित Esperanto या बनाई हुई नई भाषा है। इसी के आधार पर भारत में एक राष्ट्र बनाना सहज-साध्य हुआ है।

हमारे विचार से सर्व-साधारण में हिन्दी का व्यवहार व्यापक बनाने के लिए, "चालू हिन्दी" को स्वीकार करना ज्यादा अच्छा है। साधु-हिन्दी ऐसी प्राचीन भाषा नहीं, जिसके लघु रूप को मानने से भाषा का सत्यानाश होगा। उच्चकोटि के साहित्य की सृष्टि करने के लिए जो लोग शुद्ध रूप में "साधु-हिन्दी" का प्रयोग कर सकें, वे करें; परन्तु सभा-समितियों आदि में प्रान्तीय और अनपढ़ लोगों के लिए "चालू हिन्दी" के व्यवहार का अधिकार हो। सुकुमार साहित्य को छोड़कर, सामाचार वार्त्ता इत्यादि में चालू हिन्दी या बोलचाल की हिन्दी ही व्यवहृत हो।

"चालू हिन्दी" का रूप निर्दिष्ट करना मुश्किल होगा। उसका कोई निर्दिष्ट रूप पहले से नहीं हो सकता। उसका उच्चारण "साधु-हिन्दी" के आदर्श पर मानना चाहिए। शब्द संस्कृत और उत्तर-

भारत की बोलियों से लेने पड़ेंगे। इसके व्याकरण में जहाँ तक हो सकेगा, कम रूप रहेंगे। बंगाल और बिहार में बोलचाल की हिन्दी देखकर हमें ज्ञात होता है कि निम्न-लिखित रूप उसके व्याकरण के काम में लाए जाते हैं। बोलनेवाले के भाषा-ज्ञान के अनुसार "साधु-हिन्दी" के और रूप भी व्यवहृत होते हैं, परन्तु अधिक रूपों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

चालू हिन्दी का संक्षिप्त व्याकरण

[१] शब्द रूप :—

लिंग-भेद प्रकृति के अनुसार—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और क्लीबलिंग। स्त्रीलिंग वाले शब्दों के विशेषण तथा क्रिया के लिए विशेष प्रत्यय "ई" का प्रयोग नहीं होता।

उदाहरण—

"एक राजा का एक बेटी था, वह बड़ा खूबसूरत था। उसका छोटा बहन विधवा हो गया। राजा का बेटी बोला, हम शादी नहीं करेगा। वह तो बेवा स्त्री है, वह क्या कहेगा?"

परन्तु अर्थ के अनुसार विशेष्य में (विशेषण या क्रिया में नहीं) स्त्रीलिंग के प्रत्ययों का प्रयोग होता है; जैसे—"मामा-मामी, बुड्ढा-बुड्ढी" (परन्तु "बुड्ढा माँ" हो सकता है)। इसी प्रकार "धोबी-धोबन" और "राजपूत-राजपूतनी" इत्यादि।

बहुवचन केवल "लोग, सब, समूचा" इत्यादि शब्दों की सहायता से होते हैं, विभक्ति बदलकर नहीं; जैसे—आदमी—आदमी-लोग; घोड़ा—घोड़ा सब, या सब घोड़ा," इत्यादि। "ने"-प्रत्यय का योग करके कर्तृकारक जो औत्पत्तिक दृष्टि से करण कारक ही है नहीं बनता। कर्त्ता के सिवा और कारकों में शब्दों के रूप का परिवर्तन नहीं होता।

उदाहरण—घोड़ा—घोड़ा—सब
घोड़ा का—घोड़ा—सब का
घोड़ा से—घोड़ा—सब से; इत्यादि।

सम्बन्ध-कारक केवल एक प्रत्यय होता है—"का"। विशेषण शब्दों का स्त्रीरूप नहीं होता। "नया गाड़ी, लंबा लंबा बात।"

[२] सर्वनाम:—

चालू हिन्दी में "मैं, तू" का प्रयोग नहीं है।

एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
हम	हम-लोग	तुम	तुम-लोग
हमारा	हम-लोग का	आप	आप-लोग
		तुम्हारा	तुम-लोग का
		आपका	आप-लोग का
यह	ये-सब, ये-लोग	वह	वे-सब, वे-लोग
इसका	ये-सब का, इनका	उसका	वे-सबका, उनका
जो	जो-सब	सो, तौन,	सो-सब
जिसका	जिनका जो-सब का	तिसका	तिन-सब का, तिनका

शेष रूप "साधु-हिन्दी" के अनुसार हैं।

[३] धातु रूप:—वचन और लिंग में पार्थक्य नहीं होता।

अस्त्यर्थक धातु—

अनुज्ञा	=	हो, होवो
क्रियावाचक विशेष्य	=	होना।
कर्तृवाचक वर्तमान	=	होता।
सामान्य वर्तमान	=	है।
संभाव्य वर्तमान	=	हो, होवे।
घटमान वर्तमान	=	होता है।
पुराघटित वर्तमान	=	हुआ है।

सामान्य अतीत	=	था (अस्तित्व वाचक), हुआ (घटनावाचक)।
घटमान अतीत	=	होता था (विशेषण-होता हुआ)।
पुराघटित अतीत	=	हुआ था।
सामान्य भविष्यत्	=	होता होगा।
घटमान भविष्यत्	=	हुआ होगा।
कर्तृवाचक विशेष्य	=	होनेवाला।

इसी प्रकार " चल, देख " धातुओं के रूप में सिर्फ निम्न-लिखित रूप माने जाते हैं ; जैसे—

" चल, देख " (धातु) ; अनुज्ञा—" चलो, देखो, और चलिये, देखिये (सम्मानार्थ 'आप' शब्द के साथ), चलियो देखियो (ईषत् सम्मानार्थ) चलियेगा, देखियेगा' (भविष्यत् अनुज्ञा, सम्मानार्थ)"। धातु स्वरान्त होने से सम्मानार्थ अनुज्ञा में " इये " प्रत्यय के स्थान में " इजिये " प्रत्यय आता है ; जैसे—" देखिये ; पीजिये, लीजिये, " इत्यादि। " कर "-धातु में दो प्रकार के प्रयोग होते हैं—" कीजिये, करिये"। " चलना, देखना ; चलता, देखता ; संभाव्य वर्तमान-" चले, देखे " ; घटमान वर्तमान—" चलता है, देखता ; " " चला है, देखा है ; " सामान्य अतीत—" चला, देखा ; " घटमान अतीत—चलता था ; "देखता था ; " पुराघटित अतीत—" चला था, देखा था," भविष्यत्—" चलेगा, देखेगा ; चलता होगा, देखता होगा, चाहा होगा, देखा होगा ; " " चलने-वाला, देखनेवाला," इत्यादि।

अब मैं इस प्रकार बोलचाल की हिन्दी या चालू हिन्दी में लिखी हुई दो कहानियों और समाचार-पत्रों की दो खबरें देकर अपने निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

कहानी

(१)

उतरंगा हवा और सूरज इस बात पर झगड़ रहा था, कि हम दोनों में कौन अधिक बली है। तब उस समय उस तरफ गरम चादर ओढ़ा हुआ एक मुसाफिर आ गया। इन दोनों में यह तय हुआ कि जो पहले मुसाफिर का चादर उतार सकेगा, वही ज्यादा बली समझा जायगा। तब उतरंगा हवा बहने लगा। पर हवा जितना बहा, मुसाफिर उतने ज़ोर के साथ चादर को अपना देह पर लपेटता गया। अन्त में हवा अपना चेष्टा छोड़ दिया। तब सूरज तेजी के साथ ऊगा, और मुसाफिर गरमी के कारण अपना चादर उतार लिया। इससे उतरंगा हवा को मानना पड़ा कि दोनों में सूरज ही ज्यादा बली है।

(२)

एक आदमी का दो बेटा था। उनमें से छोटा बेटा बाप से कहा कि बाबा, आपका माल का जो हिस्सा हमको मिलेगा, उसको हमको दे दीजिये। तब बाप अपना दो बेटा को अपना माल बाँट दिया। कुछ दिन बाद छोटा बेटा अपना हिस्सा का सब कुछ इकट्ठा करके दूर देश मे चला गया, और वहाँ लुचपन में दिन बिताता हुआ अपना सब रुपया-पैसा उड़ा दिया। ऐसे जब कुछ दिन बीता, तब उस देश में बड़ा अकाल पड़ा। वह बहुत गरीब हो गया। तब वह उस देश का कोई बड़ा आदमी का यहाँ जाकर रहने लगा। वह आदमी अपना सुअर चराने को उसको खेत में भेज दिया। और वह चाहता था कि "वह सब छीमी से हम पेट भरलें, जिनको सूअर खा लेता है।" पर कोई उसको कुछ न देता था। तब उसको चेत हुआ, और वह सोचने लगा कि हमारे बाप का यहाँ इतना अलेलह रोटी तैयार होता है कि कितना मजदूर लोग पेट भरके खाता है और बचा के रखता भी है, और यहाँ हम भूखा मरता है। हम अभी उठता है, और हमारा बाप

का पास जायगा, और कहेगा कि, "ऐ बाबा, भगवान का सामने और आप का सामने हम पाप किया ; हम फिर आपका बेटा कहाने जोग नहीं। हमको अपना मजदूर-लोग में से एक के नाईं रखिये।" तब वह उठकर अपना बाप का पास चला। पर वह दूर ही था, कि उसका बाप उसको देख कर दया किया, और दौड़ कर उसका गला में लिपट गया, और उसको चूमने लगा। बेटा कहा—"ए बाबा, भगवान का सामने और आपका सामने हम पाप किया, और आप का बेटा कहाने का जोग हम नहीं।" पर बाप अपना चाकर-लोग में से एक से कहा कि "सब से अच्छा कपड़ा इसको पहिनाओ, और इसका हाथ में अँगूठी और पाँव में जूता। और चलो, हम लोग खायँ और आनंद करें, क्योंकि यह हमारा बेटा मरा ऐसा था, फिर जीया है, हेराय गया था, फिर मिला है।" तब वे-लोग सुखित मन से आनंद करने लगा।

उसका बड़का बेटा उस समय खेत में था। घर लौटता हुआ जब वह घर का नजदीक पहुँचा, तब वह नाचने-बजाने का आवाज़ सुना। वह अपना नौकर-लोगों में से एक आदमी को बुलाकर पूछा—"यह क्या है ?" वह नौकर उससे कहा कि—"आपका भाई आया है, और आपका बाप जेवनार किया है, क्योंकि उसको भला-भला पाया है।" इससे बड़का बेटा गुस्सा किया, और घर का भीतर जाने न चाहा। तो उसका बाप बाहर आकर उसको मनाने लगा। वह अपना बाप को जवाब दिया कि "हम इतना बरस से आपका टहल करता है, और आपका हुकम बरखिलाफ काम हम कभी नहीं किया, पर आप हमको कभी एक पठरू न दिया कि हमे अपना दोस्त-लोग का संग मिलकर खाना-पिना करें। पर आपका यह बेटा, जो रंडी-लोग का साथ आपका धन को उड़ा दिया, वह जैसा आया तैसा ही आप उसके लिए बढ़िया जेवनार किया है।" बाप उससे कहा—"ए बेटा, तुम सदा हमारा साथ है, और जो कुछ हमारा है वह सब

तुम्हारा ही है ; पर खुशी मनाना और आनंद करना मुनासिब है, क्योंकि यह तुम्हारा भाई मरा ऐसा था, फिर जिया है, हेराय गया था, फिर मिला है । ”

खबरें

(१) रूस का सोवयट सरकार का लंदन में स्थित दूत का द्वारा रूस सरकार सर जान साइमन को मोस्काउ देखने के लिए जो नेवता दिया गया, उसको यथा-रीति समर्थित करता है । पर उस नेवता को सर जान साइमन ग्रहण करेगा या न, इस पर कुछ सिद्धान्त नहीं हुआ । ऐसा सम्भव है कि सर जान साइमन पहला लंदन से लौटकर हर हिटलर से किया हुआ आलोचना का नतीजा को लंदन का मंत्रिमंडल का समक्ष पेश करेगा, उसका बाद फिर वह रूस का सैर पर ध्यान देगा ।

(२) युगोस्लाविया का माल-जहाज “ बकनूका ” को बचाने के लिए और तीन जहाज यात्रा किया है । फ्रांस का उपकूल से ढाई सौ मील दूर उत्तर अटलांटिक महासागर का किसी स्थान से उक्त जहाज अपना आफत का संदेशा बताने के लिए जरूरी बेतार खबर भेजा था ।

कलकत्ते की बाज़ारी हिन्दुस्तानी

मैं मालयदेश पेनांग टापू को जा रहा था। जहाज पर दो चीनी थे—एक शांग्हाई की भाषा बोलनेवाला, दूसरा केण्टन की भाषा बोलनेवाला। वे एक दूसरे की बात नहीं समझते थे, इसलिए मुझे उनके दुभाषिये का काम करना पड़ा। शांग्हाई-वाला थोड़ी-सी बाज़ारी हिन्दी जानता था, और केण्टोनो थोड़ी-सी अंग्रेजी। लन्दन की सड़कों पर घूमते हुए एक बार मलाया के एक मल्लाह ने और एक बार एक गोरे सैनिक ने मुझे भारतीय समझ कर हिन्दुस्तानी भाषा में सम्बोधन किया था। स्काटलैंड की पहाड़ियों पर एक स्काच इंजीनियरिंग-ओवरसियर ने और ग्रीस में कई ग्रीकों ने—जो कलकत्ते की रेली ब्रदर्स की कोठी में काम कर चुके थे—मुझसे हिन्दुस्तानी बोली ही में बात की थी। विदेश में जब मैं किसी भी भारतीय को देखता था, तो हिन्दुस्तानी में ही पूछता था—"क्या भाई, हिन्दुस्तानी हो?" मेरे इस प्रश्न का उत्तर हमेशा हिन्दुस्तानी ही में मिला, यदि उत्तरदाता लंका-निवासी या दक्षिणी नहीं था। कभी-कभी दक्षिणी भाई भी, कम से कम इस प्रश्न का जवाब हिन्दुस्तानी में ही देते थे। हाँ, बाद में वे आमतौर से हिन्दुस्तानी में बात-चीत न कर सकने के लिए माफी माँगते थे।

मगर ये सब लोग जिस हिन्दुस्तानी भाषा में अपने भाव प्रकट किया करते हैं, क्या वह विशुद्ध हिन्दी या उर्दू है? कदापि नहीं। पढ़ने-लिखने की साहित्यिक भाषा में और इसमें काफ़ी अन्तर है। हिन्दी-उर्दू की उत्पत्ति कैसे हुई, इस लेख में यह विवेचना न करके मैं कलकत्ते की बाज़ारी हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध ही में कुछ कहूँगा। जब उत्तर भारतीय-उर्दू का प्राथमिक रूप "रेखता"-हिन्दी, दिल्ली के

शरीफ लोग या भद्र-समाज की भाषा हो गई, तब मुग़ल-साम्राज्य के जो उच्च अधिकारी दूर के प्रान्तों में तैनात हुए, वे और उनके अनुगामी, नौकर-चाकर और बाल-बच्चे अपने साथ अपनी भाषा भी ले गए। इस प्रकार प्रान्तीय केन्द्रों में सरकारी नौकरों और उनके साथ मिलने-जुलने वाले भद्र-समाज की भाषा भी दिल्ली की ज़बान ही हो गई। इस तरह लाहौर, लखनऊ, बनारस, पटना, अहमदाबाद, ढाका, मकसूदाबाद (मुर्शीदाबाद), दौलताबाद और गोलकुंडा के "फैशनेबुल" समाज में दिल्ली की भाषा की प्रधानता हो गई। दिल्ली से एक के बाद दूसरे अफसरों के आते रहने से धीरे-धीरे इन स्थानों में दिल्ली की भाषा स्थायी रूप से स्थापित हो गई। इसके फलस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के द्वितीयार्ध में और उसके बाद जब मुग़ल-साम्राज्य का पतन हुआ, और एक के बाद एक करके सब प्रान्त दिल्ली की अधीनता से स्वतन्त्र हो गए, उस समय भी उन स्थानों में दिल्ली बोली की ही प्रधानता बनी रही। राज-दरबार और अधिकारियों से यह बोली जन-साधारण में फैली, जिनका सम्पर्क सरकार से रहता था। इस प्रकार बंगाल में हिन्दुस्तानी भाषा का प्रचार हुआ। उस समय तक अदालतों की भाषा फारसी थी। इसलिए जो बंगाली सरकारी नौकरी करना चाहते थे, उन्हें पहले तो फारसी सीखनी पड़ती थी, मगर बाद में विशेषकर अठारहवीं शताब्दी के अन्त में, उन्हें भाग हिन्दुस्तानी सीखना भी आवश्यक हो गया। जब अंग्रेजों ने बंगाल के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली, तब उन्हें अपने रोजमर्रा के कामों में न केवल फारसी और बंगला से ही काम लेना पड़ा, बल्कि हिन्दुस्तानी सीखना भी आवश्यक हो गया, क्योंकि यहाँ के कुछ प्रभावशील मुसलमान अधिकारी इसी भाषा को बोलते थे। इसके अलावा, मुर्शिदाबाद की बड़ी कोठियों के व्यापारी, जिनके हाथ में प्रान्त का हुण्डी का काम और रोज़गार था, प्रायः पंजाब, राजस्थान, अथवा उत्तर भारत के निवासी थे। वे सब हिन्दुस्तानी

भाषा ही प्रयोग करते थे। इन सब बातों से, बङ्गाल में हिन्दुस्तानी का प्रचार हुआ। उत्तर-भारत के निवासियों ने भी, जो अपने घरों में लहंदी, पञ्जाबी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, कनौजी, बुन्देली, अवधी भोजपुरी और मगही आदि बोलियाँ बोलते थे, प्रसन्नता से हिन्दुस्तानी को भाव-विनिमय का माध्यम स्वीकार कर लिया। अंग्रेजों की अमलदारी के बाद से बङ्गाल में उत्तरी भारत से जीविका की तलाश में आनेवालों का—न केवल समाज की उच्च-श्रेणी के लोगों का ही, बल्कि निम्न-श्रेणी के लोगों का भी—जैसे फेरी वाले, दूकानदार, सिपाही, घरेलू नौकर, साधु आदि का—तांता सा बँध गया, जिससे यहाँ हिन्दुस्तानी बराबर जोर पकड़ती रही। सन् १८०० में जब कलकत्ते के फोर्टविलियम कालेज की स्थापना हुई, तब उसमें हिन्दुस्तानी पढ़ाने की व्यवस्था भी हुई। भारत में डच व्यापारियों के एक जर्मन कर्मचारी केटेलेर (J. J. Ketelaer) ने लैटिन भाषा में सन् १७१५ में एक हिन्दुस्तानी व्याकरण भी लिखा था, जो सन् १७४३ में हालैंड के लाइडेन नगर से प्रकाशित हुआ था। उसमें जिस भाषा का वर्णन था, वह "बाजारी हिन्दुस्तानी" थी, जो अठारहवीं शताब्दी के आरम्भिक भाग में सूरत और मुगल-साम्राज्य के केन्द्रीय जिलों में बोली जाती थी। बाद में जार्ज हैडले नामी एक अंग्रेज ने १७७२ में हिन्दुस्तानी पर एक पुस्तक प्रकाशित की थी। सन् १७७६ में लन्दन से जे० फर्ग्यूसन ने एक हिन्दुस्तानी 'डिक्शनरी' और "ग्रामर" प्रकाशित की।

रेलों के बनने से उत्तर-भारत के लोगों की आमदरफ्त बंगाल में बढ़ती गई, और दूकानदारी रोजगार और मेहनत के कामों में इन लोगों का महत्वपूर्ण हाथ होने से इनके सम्पर्क में आनेवाली बंगाली जनता को—विशेषकर कलकत्ते और अन्य बड़े शहरों में—इनकी बोली से परिचित होना पड़ा। एक तो मारवाड़ी, बिहारी और पूर्बियों की बोली वैसे ही विशुद्ध हिन्दुस्तानी नहीं थी, उस पर बंगालियों के व्यवहार से इस पर बंगला का रंग भी चढ़ गया। बंगालियों को

अपनी बात बोधगम्य बनाने के लिए इन उत्तर-भारत के हिन्दुस्तानियों को भी अपनी बोली में—अज्ञातरूप से—कुछ परिवर्तन करना पड़ा। इस प्रकार कलकत्ते की मौजूदा बाजारी हिन्दुस्तानी, बंगालियों में अन्य प्रान्तवालों की बात समझने की चेष्टा से, और अन्य प्रान्तवालों में बंगालियों को अपनी बात समझाने की कोशिश से स्थापित हुई; फलतः इसमें एक विचित्र खिचड़ी होना स्वाभाविक ही है।

बंगाल की पौने पाँच करोड़ आबादी में बीस लाख लोगों की भाषा हिन्दी या उर्दू है। इसके अतिरिक्त पैंतालिस हजार राजस्थानी गुजराती, मराठी और पंजाबी आदि बोलने वाले हैं, जो प्रायः हिन्दु-स्तानी का व्यवहार करते हैं। शहरों और देहातों में इन लोगों की उपस्थिति ही हिन्दुस्तानी के प्रचार का साधन है।

बंगाली मुसलमानों के भद्र समाज में भी उर्दू सुसंस्कृत भाषा गिनी जाती है। ढाका-युनिवर्सिटी में तो उसे एक 'क्लासिक' भाषा का पद प्रदान किया गया है।

मुसलमानों के मकतब और मदरसे सदा से उर्दू-अध्ययन के केन्द्र रहे हैं, और उनके द्वारा आस-पास में हिन्दुस्तानी का प्रचार होता रहता है। कुछ बङ्गाली मुसलमानों में उर्दू जानना सभ्य होने की निशानी समझी जाती है। अर्ध-शिक्षित बङ्गाली मुसलमान यह दिख-लाने के लिए कि वह बिलकुल गँवार नहीं है, बाज़ारी हिन्दुस्तानी, या उससे कुछ अच्छी हिन्दुस्तानी सीखते और बोलते हैं। यूरोपियन लोग, जिनका काम-काज शहरों में होता है, थोड़ी-सी बाजारी हिन्दु-स्तानी बोलना सीखकर बङ्गाल के किसी भी भाग में अपना काम चला सकते हैं। उनके नौकर चाहे वे बङ्गाली मुसलमान हों, या चट-गाँव के बौद्ध हों या आराकानी हों, या उड़िया हों अथवा उत्तर-भारत के हों—सभी—इस बाजारी हिन्दुस्तानी को बोल और समझ लेते हैं। हाँ, मदरासी नौकर अपने मालिकों से अंग्रेजी बोलते हैं, मगर वे भी आसानी से हिन्दुस्तानी सीख लेते हैं।

कलकत्ता सार्वदेशिक नगर है, जहाँ संसार के सभी देशों के आदमी बसते हैं। कलकत्ता और हावड़ा की तेरह लाख की आबादी में बङ्गाली-भाषा-भाषी आधे से कुछ अधिक—५३.३ प्रतिशत हैं। बिहार और उत्तर-प्रदेश के हिन्दुस्तानी बोलने वाले ३७.२ प्रतिशत हैं। इसके अतिरिक्त ७००० राजस्थानी बोलने वाले, ३००० पंजाबी बोलने वाले, ६००० गुजराती बोलने वाले और १५०० नेपाली बोलने वाले हैं। मगर ये सब हिन्दुस्तानी जानते हैं। इस प्रकार कलकत्ते की दो भाषाएँ हैं—बंगला और हिन्दुस्तानी। नगर के कई भागों में —विशेषकर व्यापारिक हिस्सों में, बंगला की अपेक्षा हिन्दुस्तानी की प्रधानता है। कलकत्ते में रहने वाले उत्तरी भारत के लोगों में बहुत से लोग बंगला नहीं बोल सकते, यद्यपि उनमें से बहुतेरे बंगला समझ लेते हैं; मगर कलकत्ता नगर में रहने वाले प्रायः सभी बङ्गाली टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी बोल लेते हैं। कोई बङ्गाली सज्जन जब अपने उड़िया नौकर से बात करेगा, तब बंगला भाषा बोलेगा। मगर जब वह अपने मगही या मैथिल नौकर से बात करेगा, तो हिन्दुस्तानी भाषा काम में लायगा। यद्यपि बंगला और बिहारी बोलियो में बहुत कुछ समानता है, वे एक ही 'मागधी' परिवार की हैं, मगर इन दोनों भाषा-भाषियों के पारस्परिक भाव-परिवर्तन का माध्यम दिल्ली की जबान—विकृत रूप में—बनती है। कलकत्ते के किसी धनी बंगाली परिवार को ले लीजिए। उसके घर में कम से कम आधी दर्जन विभिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं। घर के मालिक प्रायः कलकत्ते की बोल-चाल की बंगला बोलते होंगे। उनका मैनेजर पूर्वी-बङ्गाल का —पूर्वीय बंगला बोलने वाला व्यक्ति होगा। नौकरानियाँ प्रायः पश्चिमी बङ्गाल की—विशेषकर मिदनापुर या बाँकुड़ा जिले की होंगी। नौकर प्रायः बङ्गाली नहीं होते। यदि बङ्गाली हुए, तो वे भी मिदनापुर या बाँकुड़ा जिले के होंगे, अन्यथा यह बिहारी या उड़िया होंगे। रसोइया पश्चिमी बङ्गाल का या उड़िया अथवा कभी-कभी मैथिल

ब्राह्मण होगा। माली उड़िया बिहारी होगा। साईस नीच जाति के बिहारी या उत्तर-प्रदेश के अथवा पूर्वीय जिले के होंगे। कोचवान ज्यादातर पूर्वी हिन्दी बोलने वाला मुसलमान होगा। मोटर ड्राइवर बङ्गाली, हिन्दू या पञ्जाबी सिक्ख होगा। दरबान आम तौर से भोजपुरी ब्राह्मण, या कभी-कभी सिक्ख अथवा गुरखा होता है। केवल बङ्गाली और उड़ियों को छोड़कर ये सब लोग—आपस में बाजारी हिन्दुस्तानी ही में बात करते हैं। नया आया हुआ देहाती कुछ दिन तक अपनी बोली बोलता है, मगर अन्य लोग उसकी बोली नहीं समझ पाते, इसलिए उसे मजबूर होकर शीघ्र ही बाजारी हिन्दुस्तानी सीख लेनी पड़ती है।

कलकत्ते की भीड़ में—रेस के मैदान में, फुटबाल के खेल में, ट्रामों और बसों पर बङ्गाली, गुजराती, सिक्ख, अफगानी, चीनी तमिल, बगदादी, यहूदी, आर्मीनियन और ऐंग्लो-इण्डियन आदि सभी मिले-जुले दिखाई देते हैं। ये सब एक दूसरे से बातें, हँसी-दिल्लगी और कहा-सुनी आदि में बाजारी हिन्दुस्तानी ही व्यवहार करते हैं। इनमें से कोई भी—यहाँ तक दिल्ली का रहने वाला भी—जो इस भीड़ में आ फँसता है, व्याकरण की शुद्धता का खयाल नहीं रखता। यही बाजारी हिन्दुस्तानी भारत के या (democratic) जनतन्त्र की भाषा है। यह एक जीती-जागती और जोरदार जबान है।

जब कोई बोली वास्तव में सर्वसाधारण जनतान्त्रिक बोली और हाट-बाजार की बोली बनती है, तब वह किसी एक विशेष प्रान्तिक संस्कृति के सम्बन्ध से नहीं बँधी रहती। उच्चारण, शब्द-विन्यास और मुहाविरों में भी किसी विशेष स्टैंडर्ड पर वह स्थिर नहीं रखी जा सकती। हाँ, जिस आदि भाषा से यह बोली निकलती है, इस सजीव बोली में उसकी कुछ विशेषताएँ जरूर होती हैं। वे ही उसे आदि भाषा से सम्बन्धित रखनेवाली कड़ी हैं। कलकत्ते की बाजारी हिन्दुस्तानी एक प्रकार से विशुद्ध हिन्दी और बंगला का समझौता है। यहाँ की हिन्दुस्तानी असल में पूर्वीय उत्तर-प्रदेश और बिहार के निर-

चार जनसाधारण की व्याकरणहीन हिन्दी है, जिस पर बंगला के उच्चारण, शब्दों और मुहाविरों का रंग चढ़ा है।

शुद्ध हिन्दी-भाषा से बाजारी हिन्दुस्तानी का अन्तर, बोलने वाले की मातृ-भाषा और उसके हिन्दी-ज्ञान के परिणाम के अनुसार घटा-बढ़ा करता है। बंगाली, अंग्रेज, उड़िया, तमिल, चीनी आदि हर एक व्यक्ति इस भाषा को व्यवहार करते समय स्वभावत: उस पर अपना विशेष रंग चढ़ा देता है। उदाहरण; जैसे—एक तमिल-भाषी खानसामाँ का कहना : "इन्दुस्तानी हम तकण में सीका; तोडा तोडा बोलता है, इच्चे अमारा काम सलता हे।" एक चीना जूता वाला—"पौत् फाला चूना, अच्छा चामला, अच्छा सिलाय, लाम (=दाम) लू चुपिया पाला आना (दो रुपये बारह आने।)" एक आंड़िया कूली—"सरोदारो आइ किरि कहि दिया, ये कामो जल्दी जल्दी शेष करि दिबाकू।" मगर इतना होते हुए भी इन सब की बोलियों की तह में एक साधारण आधार है, जो उन्हें बोधागम्य बनाता है। यह आधार इस बात में है कि व्याकरण के रूपों का जितना कम हो सके व्यवहार किया जाय, और रूढ़ि शब्दों का व्यवहार न करके साधारण शब्दों और साधारण मुहाविरों के द्वारा कम-से-कम शब्दों में बात कही जाय।

यह मानना पड़ेगा कि शुद्ध, बामुहाविरा हिन्दुस्तानी सीखना आसान बात नहीं है। हिन्दुस्तानी के व्याकरण की जटिलता उसके शब्दों की विभिन्नता और मुहाविरों की बाहुल्यता आदि के कारण, हिन्दुस्तानी सीखना, फारसी सीखने से कहीं अधिक कठिन है। पुराने समय में बंगाल के मुसलमान आपस के पत्र-व्यवहार में उर्दू का व्यवहार न करके फारसी का ही व्यवहार करते थे। जिनकी मातृ-भाषा शुद्ध हिन्दुस्तानी नहीं है, उन्हें काफी सावधानी और परिश्रम के बाद शुद्ध हिन्दुस्तानी बोलने आती है। कवि मीर तकी तो यहाँ

तक कहते थे कि दिल्ली वाले के अतिरिक्त किसी को उर्दू-भाषा नहीं आ सकती। एक अन्य उर्दू कवि ने भी कहा था :—

" बाज़ों का गुमाँ है कि हम अहले-ज़बाँ हैं—
दिल्ली नहीं देखी, ज़बाँ-दाँ ये कहाँ हैं ? "

जिस भाषा में केवल दो ही लिंग हैं, जिसके शब्दों के विभक्ति-रूप कठिन हैं, जिसकी क्रिया-रचना जटिल है तथा जिसमें संस्कृत, अरबी, फारसी आदि के शब्द मिले हैं, उसका भारत के समान महादेश की राष्ट्रभाषा या कौमी जबान बनाना कठिन है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें सरलता उत्पन्न की जाय। बे-पढ़े-लिखे जनसाधारण ने अपनी आवश्यकता के अनुसार—व्याकरण और विद्वानों की परवा किए बिना—उसमें सरलता पैदा कर दी है। और वह सरल भाषा ही बाजारी हिन्दुस्तानी है। हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करने में अपनी बहुत-सी प्रान्तीय विशिष्टताओं का त्याग करना होगा, और अखिल भारतीय जामा पहिनना होगा। राष्ट्र-भाषा का आकार-प्रकार देश के जन-साधारण के द्वारा—कलकत्ते-जैसे नगरों की सड़कों और बाजारों में इकट्ठी होने वाली भीड़ के द्वारा—होगा।

अच्छा, अब जरा इस बाजारी हिन्दुस्तानी की बानगी देखिए। सन् १८६७ के एक बंगाली अखबार में निम्न-लिखित विज्ञापन प्रकाशित हुआ था—

इस्तहार

" सब कोई को खबर दिया जाता है कि शहर कलकत्ता का उत्तर डिवीज़न का शामिल मोक़ाम अमड़ातल्ला गोविन्दचन्दधर लेन में इगारह नम्बर का जमीन, ब्लाक नम्बर इगारह, होल्डिंग नम्बर एक सौ तिरानबे, ओ जमीन का नाप पाँच काठा, उसका कुछ कमी होय और बेशी होय, ओ जमीन और सुरती बागान के रहनेवाला

उसका मालिक बाबू हरीनारायण चक्करवर्ती बेचने मांगता है। ये बी इस्तहार दिया जाता है, जो कोई को कुछ केलेम याने दावी रहे, याने अगर ओ जमीन किसी का पास बंधक रहे, वह सक्स को चाहिए जे नीचे सही करने वाला लोगों को दस रोज का बीच में इसका हाल जनावे। ये मियाद जाने से कुछ दावी नेहीं सुना जायेगा और ओ अदालत में बी मनजूर नहीं होयेगा।"

कलकत्ते में मछुओं का चलता-फिरता एक मेला होता था, जिसमें तरह-तरह के स्वांग दिखाये जाते थे। यह "जालिया-पाड़ा का स्वांग" कहलाता था। इसमें एक काबुली सूदखोर के स्वांग में काबुली बाजारी हिन्दुस्तानी में कहता है—

"मेरा नाम गाफूर मियाँ। हम जब मुलुक से आया, साथे लाया थोड़ा-से हींग।

बड़े बाजार का सड़क में बैठके, दिनभर ओही चीज बेचके, नफा से पाँच पैसा लेके, गुजराते (= गुज़रते) हम दिन।

जे रोज एक ठो रूपिया हुआ, ओही रोज हम कसम खाया कि 'येही रूपेया तोड़ाये, तो हम हरामखोर'।

एक आदमी नाम रामू कहार, रूपिया ठो उसको दिया उधार, रोज दू पैसा सूद दिया ऊ बरिस भोर (= भर)।

सूद में सब मिला जेतना, उधार हम दिया उतना, सूद लिया रूपया में चार आना।

अभी हम महाजन हुआ, महीना में सूद मिलता तीन सौ रूपेया, जिसको देता, लेता उसको गोरू, जोरू, धोती और उड़ना।

इये साला बदमास, रूपिया लिया नौ मास, सूद दिया थोड़ा-बहुत दू सौ रूपेया।

और नेही सूद देता—ओही वास्ते साला को गाली देता, और डंडा से ठंठा करने येहो दोस्त लोग को लाया। लेआओ साला रूपिया!"

कलकत्ता नगर के रंग-ढंग के ऊपर इसी स्वांग में एक परदेशी (उत्तरी भारतवासी) कहता है—

" दिल में एक भावना से कलकत्ता में आया,
कैसन कैसन मजा हम हियाँ देखने पाया।
आरी समाज, ब्राह्म समाज, गिरजा, महजीद,
एक लोटा में मिलता—दूध, पानी सब चीज।
छोटा बड़ा आदमी सब, बाहर करके दाँत,
झपट मारके बोलता है, अंगरेजी में बात।
उड़िया आदमी लोग अंगरेजी में बोलता है
' कम हियर बाबू!'
कलकत्ता के काम देख के हम भी हुआ काबू।" इत्यादि।

एक अन्य गीत कलकत्ते के लोगों के सम्बन्ध में है—

" ऐसा कलकत्ता, बाबू कभी न देखा जी।
मंडा छोड़ के अंडा खाता, होटल में सब कोई जाता जी।
गंगा माई नगीच में बहता, कभी न उसमें नहाता जी।
बोलता—उसको मैला पानी बदन मैला करता जी।
देवता ब्राह्मण मानता नेही, बोलता भुतनी काली माई।
हिन्दुआनी छोड़ दिया सब, खिस्टानी नहीं सकता जी।
दारू पी के पाँट-पाँट, सब बाबू का मेजाज छोटा लाट।
जोरू से कजिया, माई को लाथी, बाप को साला बोलता जी।"

× × ×

एक बंगाली सज्जन, जिन्होंने कभी हिन्दुस्तानी नहीं सीखी, मगर विहारियों के संसर्ग से जो हिन्दुस्तानी बोल लेते हैं, बाइबिल के एक किस्से को इस प्रकार बयान करते हैं—

"एक आदमी का दूठो लेड़का था। उससे छोटा लेड़का उसका बाप को बोला—" बाबा, हमारा विषय का (विषय = सम्पत्ति) हिस्सा हमको दे दीजिये।" ओही बात सुनके उसको बाबा दोनों लेड़का को

भाग-बटवारा करके दिया था। उसको थोड़ा दिन बाद, छोटा लड़का उसको विषय का हिस्सा एक साथ करके दूर देस पर चला गिया था, और उस देस में बदखियाली करके सब विषय खरच कर दिया।

इसी कथा को एक बेपढ़े मैथिल रसोइये ने हिन्दुस्तानी में इन शब्दों में कहा था—

"एक आदमी को दो लड़का रहा। छोटका बाप से कहा कि हमारा हिस्सा तुम दे दो। बाप लड़कवन का हिस्सा बाँट दिया। फिर छोटा लड़का अपना सब कुछ लेकर परदेस चला गिया, और वहाँ नबाबी से सब उड़ा दिया।"

राष्ट्रभाषा का प्रश्न

हमारी विशाल मातृभूमि के सभी प्रान्तों से आकर हम लोग भारत के पश्चिम व्यापार-केन्द्र इस करांँची नगर में मिले हैं। सुदूर पूर्व के बंगाल प्रान्त से आये हुए इस नगण्य राष्ट्रभाषा सेवक का सादर अभिवादन आप लोग ग्रहण करें। हमारी राष्ट्रभाषा भारत-भारती हिन्दी की इस यज्ञभूमि में इस भाषा और भाषा-गत परिस्थिति के विषय पर कुछ चर्चा करने को आप लोगों ने मुझे बुलाया है। इस बुलावे को मैं अपने लिए अहोभाग्य समझता हूँ। मुझे हिन्दी का ज्ञान नहीं है। जो हिन्दी मैं किसी सूरत से बोल लेता हूँ, वह टूटी-फूटी कलकतिया बाजारू हिन्दी ही है;—हिन्दी के बारे में कुछ बोलने का अधिकार—खास करके हिन्दी के विद्वानों के सामने, मेरा तो है नहीं। पर मैं इतना ही कह सकता हूँ, कि मैं हिन्दी का प्रेमी हूँ, और आजकल के भारत के राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक जीवन में हिन्दी के महत्त्व को भली भाँति मैं समझता हूँ। केवल प्रेम और परिपार्श्विक का कुछ ज्ञान, इन दोनों के अधिकार से आप लोगों के समक्ष खड़े होने की हिम्मत मुझे होती है। इसके अलावा, हिन्दी भारतवासियों की साधारण सम्पत्ति बन गयी है। अब यह केवल पछाँह के लोगों के लिए पूर्वजों से प्राप्त एक खास मीरास अर्थात् रिक्थ नहीं है। मध्यप्रदेश से—अर्थात् पूर्व-पंजाब, पश्चिम उत्तर प्रदेश तथा बुन्देलखण्ड से—साहित्यिक भाषा के रूप में पश्चिम-पंजाब से बंगाल तक और हिमालय से विन्ध्य तक इसका फैलाव हो गया है; केवल इस विशाल भूखण्ड में भी यह सीमित नहीं रही; गुजरात, सिन्ध, काश्मीर, नेपाल, बंगाल, असम, उड़ीसा में, महाराष्ट्र में और द्राविड़भाषी आन्ध्र, कर्णाट, तमिलनाडु और केरल में, इसका प्रचार

बढ़ता जा रहा है ; समग्र भारतीय जनगण जैसे इसे अपना लें, इसलिए भीतर से प्रेरणा और बाहर से प्रचार भी हो रहा है। इस कारण अखिल भारतीय वातावरण में हिन्दी के प्रश्नों पर विचार करने के लिए, हिन्दी-संसार या हिन्दी प्रान्त के बाहर के लोगों की अपेक्षा है। हिन्दी को भारत के प्रान्तिक जनों में सबकी बोली यदि बनना हो, तो सबकी चिन्ता, ध्यान-धारणा और सबकी मिलित चेष्टा की आवश्यकता होगी। भारत के हर प्रान्त के हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी की समस्याओं को समझने वालों के लिए विवेचन, विचार और सिद्धान्तों की इन समस्याओं के समाधान के लिए जरूरत है। आज के दिन एक बंगभाषी को, जो कि हिन्दी ही को भारत की राष्ट्रभाषा मानता है, अपनी राय देने के लिए आप लोगों ने आज्ञा दी है। यह भी उचित होगा, कि आयन्दा दूसरे अहिन्दी प्रान्तों के प्रतिभूओं को आप लोग बुला भेजेंगे ; और अन्त में राष्ट्रभाषा हिन्दी के रूप के निर्णय करने के लिए, और भारत के आगामी जनतन्त्र के वास्ते इसे उपयोगी बनाने के उद्देश्य से, एक अन्तःप्रान्तीय " सुमन्त्र-सभा " या परामर्श-समिति बनानी पड़ेगी। भारत के अहिन्दी प्रान्तों के एक साधारण प्रतिनिधि के रूप में, इस सभा में उपस्थित होना, मैंने अपना कर्तव्य ही समझा है।

इस समय भारत की राष्ट्र-परिस्थिति, एक विशेष संकटपूर्ण अवस्था में आ पहुँची है। इस परिस्थित के काले रंग से सब कुछ रंग-सा गया है। राष्ट्रीय व्यवस्था जातीय जीवन का आधार—उसकी प्रतिष्ठा है। देश की राष्ट्र-व्यवस्था यदि बिगड़ी, तो सब कुछ बिगड़ा। भारतीय राष्ट्र को इस समय विध्वस्त और सम्पूर्ण रूप से विनष्ट कर देने की अपचेष्टा चल रही है। भारतीय एकता का एक मुख्य साधन हिन्दी ही बन चुकी है, इसलिए भारतीय राष्ट्र के विरोधी हिन्दी के विरोध में अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं। इसका फल यह हुआ है कि हिन्दी की स्वाभाविक गति में रुकावट

डालने वाली कुछ नई कठिनाइयाँ दिखाई पड़ रही हैं। इनमें सबसे हानिकर यह है कि हम लोगों में आदर्श-विपर्यय आ गया है। हमारा दिग्भ्रम होता जाता है, हम किंकर्तव्य-विमूढ़ बन जाते हैं। भारत के कुछ मुसलमान राजनीतिक, जिनका आदर्श सचमुच इसलाम धर्म का नहीं है, परन्तु विदेशी सरकार के प्रसाद से हिन्दू प्रभृति समस्त भारतीय जनता पर अपने दल का कट्टर आधिपत्य कायम करना ही जिनका एकमात्र आदर्श या उद्देश्य है, वे इस वक्त बहुमत मुसलमान सम्प्रदाय के कर्णधार बने हैं। उनकी ओर से और हमारी तरफ से उन्हें खुश रखने की नीति के कारण प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से हिन्दी पर अब सख्त हमला हो रहा है—हिन्दी संस्कृति पर प्रबल आघात हो रहा है। राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में भी प्रश्न वही है—हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न। उर्दू अर्थात् मुसलमानी हिन्दी—सम्प्रदाय विशेष में निबद्ध हिन्दी, विदेशी शब्दों से और विदेशी भावों से भरपूर हिन्दी—भारत के बहुसंख्यक जनों की शुद्ध हिन्दी, भारत के जातीय भाव से अनुप्राणित हिन्दी को कहाँ तक रोकेगी, अंगरेज सरकार तथा हमारे कांग्रेसी शासन के पूरे समर्थन से कहाँ तक इसे रोक सकती है, यही हिन्दी के सामने आज सबसे कठिन समस्या है। इस समस्या को हल करने के लिए Courage of Despair 'करेज आफ डिसपेयर' अर्थात् नैराश्य-जनित दुस्साहस का आश्रय लेकर महात्मा गांधी ने देवनागरी तथा अरबी इन दोनों लिपियों में साथ-साथ लिखी जाने-वाली, "हिन्दुस्तानी" को हिन्दी के स्थान पर बिठा देने की सलाह दी है। परन्तु इससे भी यह बात तय हो नहीं सकी। समस्या और भी जटिल बन रही है। इसमें तो सन्देह नहीं कि हिन्दू-मुसलमान समस्या का हल हो जाने से भारत के दुःखों का अवसान हो जायगा। भाषा के क्षेत्र में इस समस्या का समाधान कहाँ हो सकता है, यह हमारे लिए विचारणीय है। हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी की समस्या से सम्पर्कित हिन्दी की लिपि का सवाल भी है, पर उर्दू की अरबी लिपि

के मुकाबले में उसे हल करना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहल है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी यह सहल होना चाहिए—यदि हम ज्ञान तथा दृढ़ता के साथ अपने आदर्श पर अटल रहें। लिपि के बारे में नागरी और अरबी के अतिरिक्त रोमन लिपि का भी प्रश्न आया है। भारतीय जनता के मानसिक, आध्यात्मिक तथा व्यवहारिक लाभ अथवा हानि की दृष्टि से, दूरदर्शी एवं निष्पक्ष वैज्ञानिक अवलोकन के साथ रोमन लिपि की उपयोगिता का विचार होना चाहिए। यहाँ इतना ही काफी होगा कि यदि नागरी के सामने अरबी या उर्दू लिपि का प्रश्न नहीं रहता, तो रोमनवाली बात लाने की आवश्यकता या अवसर ही नहीं आता। हिन्दी-संसार के कुछ प्रान्तिक जनपदों के शिक्षित जनों के अवचेतन में एक नई भावना धीरे-धीरे उत्पन्न हुई है, जो " विकेन्द्रीकरण " के नाम से प्रकट हुई है। इसके सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि इस विकेन्द्रीकरण का मामला कहाँ तक जनपदों की जनता की हृदय की आकांक्षा से उद्भूत हुआ है, और कहाँ तक इससे जनता मानसिक तथा सांस्कृतिक लाभ उठा सकेगी? केवल विकेन्द्रीकरण के लिए विकेन्द्रीकरण समर्थन-योग्य नहीं जँचता।

और एक बात है। हिन्द को सबकी बोली बनाने के लिए चालू हिन्दी के प्रयोगों के आधार पर इसके व्याकरण को कुछ सरल करवा देने की जरूरत महसूस होती है।

और भी कई प्रश्न हैं। हिन्दी कहाँ तक और कैसे हमारे राष्ट्रीय जीवन में तथा हमारी शिक्षा में अंग्रेजी का स्थान ले सकती है, विभिन्न प्रान्तिक मातृभाषाओं के समक्ष कहाँ तक इसके पठन-पाठन की व्यवस्था हो सकती, राष्ट्र के किन-किन विभागों में हिन्दी को हम अनिवार्य कर सकते हैं और किन-किन विभागों में इसे हमें ऐच्छिक रखना पड़ेगा, इन सब प्रश्नों पर हमें राय देनी है, और हमारी राय जैसे कार्यकर हो, ऐसे कार्यक्रम हमें सुझाने चाहिए।

राष्ट्रभाषा के विषय में कुछ कहने के पहले दो स्वतःसिद्ध प्रतिज्ञाएँ हमें मान लेनी चाहिए— एक तो यह है कि भारतवर्ष एक, अखण्ड और अविभाज्य राष्ट्र है ; भौगोलिक दृष्टि से यह एक और स्वतन्त्र देश है, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इसके अधिवासी एक ही नेशन या जनगण अथवा राष्ट्र बने हैं। यह केवल 'कानफेडरेसी' अर्थात् गणसंघ या राष्ट्रसंघ नहीं है, वरन् उससे घनिष्ट रूप से भी सम्बन्ध विभिन्न गणों के समवाय से गठित एक महागण वा राष्ट्र है। दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि एक-गणता अथवा एक-राष्ट्रीयता का एक आवश्यक संयोग-सूत्र है—कोई एक भाषा; चाहे वह भाषा उस जन-गण के सबकी घरेलू बोली या एकमात्र बोली हो, चाहे वह राष्ट्र की एक से अधिक विभिन्न घरेलू बोलियों और साहित्यिक भाषाओं में से सबके द्वारा स्वीकृत अन्तःप्रान्तीय भाषा और प्रधान राष्ट्र-परिषद् की ओर से प्रतिष्ठित भाषा हो। एकगण्य या एक राष्ट्रीयता के प्रतीक-स्वरूप ऐसी एक भाषा को माने बिना काम नहीं चल सकता ; और यह भाषा देश या राष्ट्र ही की कोई भाषा होनी चाहिए। आत्म-सम्मान-सम्पन्न किसी सभ्य और स्वतन्त्र राष्ट्र में दूसरे और किसी सभ्य देश या राष्ट्र की भाषा व्यवहार करना अस्वाभाविक ही मालूम होगा। इन दोनों स्वतःसिद्धों में से पहले को, सिवाय कुछ मुसलिम-लीगी मुसलमानों के, सब भारतवासियों ने मान लिया है ; और दूसरे के सम्बन्ध में साधारणतया एकमत होते हुए भी कहीं कुछ मतभेद दिखाई देता है। ऐसे कुछ सज्जन हैं, जिनके विचार में इस समय जैसे अंग्रेजी भारत के शिक्षितों की प्रमुख भाषा बन रही है, उसे वैसे ही रखना ठीक होगा। इनकी राय यह हैं कि भारत में सदा के लिए अंग्रेजी को ही अन्तःप्रादेशिक भाषा रक्खा जाय। परन्तु ये सज्जन देश की अनपढ़ जनता पर अपनी कृपा-दृष्टि नहीं डालते। भारत में एक प्रतिशत से ज्यादा अंग्रेजी दाँ नहीं हैं। किसी भारतीय भाषा को अपनाने में भारत की अशिक्षित प्रजा को उतनी कठिनाई नहीं होती, जितनी

कि अंग्रेजी ऐसी विदेशी भाषा के सीखने में। उत्तर भारत के आर्य-भाषियों के लिए यह तो एक खास बात है कि बगैर ज्यादा तकलीफ उठाये हुए जीवन की और मामूली अभिज्ञताओं की तरह ही काम-चलाऊ हिन्दी को वे ज्यों-का त्यों सीख लेते हैं—आर्यभाषियों के लिए हिन्दी सीखना कुछ बड़ी बात नहीं होती। दक्षिण के द्राविड़भाषी लोगों के लिए हिन्दी सीखना अपेक्षाकृत कठिन होता है, यह सत्य है। पर द्राविड़ लोग भी सरल व्याकरण की चालु हिन्दी निहायत आसानी से सीख लेते हैं; जब इन्हें अंग्रेजी के मोह से छुटकारा मिलता है और हिन्दीवालों के सम्पर्क में ये आते हैं। द्राविड़ भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का प्रकृति मूलक या गठन-मूलक मेलजोल विद्यमान है, जो कि अंग्रेजी और द्राविड़ भाषाओं के बीच नहीं है। राजनीतिक कारणों से अंग्रेजी सीखने की आदत यदि बदल दी जाय, तो भाषातात्त्विक दृष्टि से द्राविड़वालों के लिए हिन्दी या और कोई भारतीय आर्य भाषा सीखना सहल ही होगा।

अस्तु, भारत की एक-राष्ट्रीयता तथा भारतवासियों में राष्ट्र-भाषा के रूप में किसी भारतीय भाषा की आवश्यकता—इन दोनों विषयों पर अधिक बोलने की जरूरत नहीं है। इस समय जितनी भारतीय जीवित भाषाएँ हैं, उनमें हिन्दी ही को अन्तःप्रान्तिक या राष्ट्रभाषा की यह मर्यादा मिल चुकी है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। विभिन्न प्रदेशों से आये हुए दो भारतवासी जब इकट्ठे होते हैं, यदि वे अंग्रेजी-शिक्षित अथवा संस्कृतज्ञ पंडित नहीं होते, तो ज्यादा सम्भावना यही रहती है कि वे हिंन्दी ही में बात करते हैं—वह हिन्दी चाहे शुद्ध हो, चाहे मुसलमानी ढङ्ग की हो, चाहे टूटी-फूटी कलकतिया या बम्बइया या दक्खिनी बाजारू हिन्दी हो। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और लाहौर में बनी हुई हिन्दुस्तानी या हिंन्दी फिल्में, भारतवर्ष के सैकड़ों शहरों और कस्बों में दिखाई जाती हैं, और हजारों महाराष्ट्र, बङ्गाली, उड़िया नेपाली और तेलुगु और कन्नड और कभी-कभी तमिल लोग भी इन्हें

बड़े चाव के साथ देखने, और इनके गाने आदि सुनने जाते हैं। हिन्दी फिल्में भारत के बाहर लङ्काद्वीप, मौरिशस, दक्षिण और पूर्वी अफ्रिका, मलाया और फिजी, ब्रिटिश गायना, त्रिनिदाद आदि दूर देशों में, जहाँ भारतीय लोग बसे हैं, बड़ी लोकप्रिय होती हैं। भारत के वे घरबार के साधु-सन्त और फकीर लोग, जो कि तीर्थ से तीर्थान्तर घूमते हैं, और सारे भारतवर्ष की यात्रा करते फिरते हैं, हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं। इन सब बातों से, हिन्दी की प्रतिष्ठा सर्वत्र दीख पड़ती है—क्या समग्र उत्तर भारत में, क्या दक्षिण के बड़े बड़े शहरों में और प्रधान तीर्थ-क्षेत्रों में।

न केवल भारत में हिन्दी का इतना प्रसार है—भारत के बाहर यदि किसी भारतीय भाषा की सार्वजनीन बोधगम्यता है, तो हिन्दी ही की है। बर्मा में जाइये—वहाँ बंगाली, बिहारी, हिन्दुस्तानी, पंजाबी, सिन्धी, मारवाड़ी, गुजराती, महाराष्ट्रीय, उड़िया, नेपाली तथा तमिल मलयाली और तेलुगु बोलनेवाले मिलेंगे। पड़ोस के प्रान्त होने के कारण कभी-कभी कुछ बर्मियों में बङ्गला से परिचय दिखाई देता है; पर ज्यादातर हिन्दी ही को न केवल भारतीयों में, बल्कि बर्मियों में भी चालू देखियेगा। रंगून में एक बर्मी मोटर-ड्राइवर से मैंने बङ्गला में कुछ कहा, जवाब में वह बोला—"जो 'कला' बात सब 'कला' लोग बोलता है, वही बोलो", अर्थात् हिन्दी में बोलो। (बर्मी लोग विदेशियों को, खास करके भारतीयों को, 'कला' कहते हैं।) विभिन्न जाति की जहाज़ कम्पनियों के जहाजों में देखिये; जहाँ खलासी और मल्लाहों में भारत के विभिन्न प्रान्तों के लोग हैं और साथ-साथ पठान, मलाई, चीनी, अरब, सोमाली इत्यादि एशिया तथा अफ्रिका के बहुतेरे लोग एकत्र होते हैं, ऐसे संयोग में यदि भारतीय लोग संख्या में प्रबल हों, तो और सब भाषा छोड़, हिन्दी ही अधिकतर व्यवहृत होगी। प्रवासी भारतीय जहाँ-जहाँ ज्यादातर बसे हैं; जैसे ब्रिटिश मलाया में, फिजी में, मौरिशस में, पूर्व और दक्षिण अफ्रिका

में, त्रिनिदाद में, ब्रिटिश गायना में, वहाँ हिन्दी ही का बोलबाला है; कहीं-कहीं तमिल्-नाडु के लोग अधिक होने के कारण, तमिल् भाषा भी कुछ सुनाई देती है, पर इनमें भी हिन्दी बोलने की प्रवृत्ति काफी दिखाई देती है। भारत के बाहर के देशों में हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, यह सुनकर भारतवासियों को हर्ष होगा। कुछ प्रांतीय भाषाओं के पत्र निकलते थे और अभी भी निकलते हैं, पर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वहाँ भारतीय प्रवासी अपनी एकता के विषय में जाग्रत होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों इनमें हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ और हिन्दी का पठन-पाठन बढ़ता आ रहा है। अंग्रेजी जैसी प्रभावशाली विदेशी भाषा के सामने आत्म-रक्षा के लिए, हिन्दी ही से इन्हें मदद मिल रही है। स्वामी भवानीदयालजी संन्यासी ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्हीं की प्रेरणा से आज दक्षिण और पूर्वी अफ्रिका तथा फिजी आदि में, हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ और शिक्षण-संस्थाएँ चल रही हैं।

अखिल भारत के जीवन में हिन्दी की यह व्यापक प्रतिष्ठा, केवल आजकल के प्रोपेगेंडा या प्रचार का फल नहीं है—यह स्मरणातीत काल से उपलब्ध भाषा-विषयक परम्परा की देन है। इस विषय पर मैंने अन्यत्र कुछ विचार प्रकट किये हैं। संक्षेप में मेरा कहना यह है कि हिन्दी पंजाब से संयुक्त मध्यदेश के पश्चिम खंड की भाषा है; उत्तर भारत के इस अंश में—प्राचीन काल के "उदीच्य" के भाग में तथा "मध्यदेश" में—प्राचीन भारतीय या ब्राह्मण्य अथवा हिन्दू धर्म और सभ्यता की नीवँ डाली गयी थी; इसी प्रान्त में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के नेतृत्व से भारतीय मिश्रित आर्यानार्य या हिन्दू सभ्यता ने अपने विशिष्ट रूप को प्राप्त किया था, यह प्रान्त, उत्तर भारत के आर्यावर्त या आर्यभाषी देशों के बीच या हृदयस्वरूप था—यहाँ की बोली युग-युग से भारतीय सभ्यता का मुख्य वाहन या माध्यम मानी गई थी और बीच की बोली होने के कारण चारों तरफ प्रान्तों के

लोगों में इसे समझ लेना जनता के लिए बराबर सहज था। मध्यदेश की बोली पर उदीच्य का प्रभाव—अर्थात् पछाँह की बोली पर पंजाब का प्रभाव, युग-युग से दिखाई देता है। वैदिक साहित्यिक भाषा जो ऋग्वेद में मिलती है और जिसे "छान्दस" कहा जाता है, पंजाब में (विशेषज्ञों की राय से उत्तर-पश्चिम पंजाब में) आर्य लोगों में अपने रूप को प्राप्त किया था। इसके बाद, उसी प्रान्त की "लौकिक" या चालू आर्य बोली के आधार पर संस्कृत भाषा बनी, जो धीरे-धीरे, मौखिक या कथित आर्य बोलियों के साथ, ब्राह्मणों के गुरुकुल और उनके परिषदों के सहारे, पूर्व की तरफ गंगा की उपत्यका में फैली। मध्यदेश—कुरु-पंचालों का देश—वेदोत्तर काल की ब्राह्मण्य सभ्यता का प्रधान प्रकाश-क्षेत्र बना। उदीच्य अर्थात् उत्तर पंजाब की बोली, "छान्दस" भाषा से ज्यादातर मिलती जुलती थी, और लौकिक संस्कृत की भी आधार-भूमि थी; इस कारण मध्यदेश के ब्राह्मणों में उदीच्य की बोली सम्मानित थी। इसका ही अनुकरण मध्यदेश में तथा प्राच्य में होता था। उदीच्य की बोली ने मध्यदेश में आकर वहाँ के ब्राह्मणों के मुँह से जो रूप लिया, वही संस्कृत है। जैसा इटली में हम देखते हैं, साधु या "संकुस्त" इटालियन भाषा का स्वरूप है—Lingua Toscana in Bocca Romana 'लिंगुवा तोस्काना इन् बोक्का रोमाना'—टस्कानि-प्रदेश की भाषा रोम-नगरी में लायी गई, और वहाँ इसने रोमन लोगों के मुँह अपना चेहरा बदल, साधु या साहित्यिक इटालियन भाषा का रूप ग्रहण किया। मध्यदेश में प्रतिष्ठित उदीच्य की आर्यभाषा संस्कृत, समग्र प्राचीन तथा मध्य युग के भारत की सभ्यता की मुख्य वाहन बनी। फिर संस्कृत के बाद शौरसेनी प्राकृत और पाली के नाम से मध्यदेश की जनभाषा भारतीय संस्कृति और चिन्तन का माध्यम बनी। शौरसेनी प्राकृत सबसे श्रेष्ठ और मार्जित प्राकृत गिनी जाती थी। पाली शौरसेनी के ही आधार पर स्थापित होकर, हीनयान मत के बौद्धों के थेरवाद सम्प्रदाय की धार्मिक

भाषा बनी। उत्पत्ति के विचार से, पाली से मगध या मागधी प्राकृत का कोई भी सम्बन्ध नहीं था।

शौरसेनी प्राकृत के परिवर्तित रूप शौरसेनी अपभ्रंश ने ईसवी ६०० के बाद, लगभग ईसवी ८०० के आसपास, एक नई साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण किया, और वह आजकल के पश्चिम उत्तर प्रदेश, राजस्थान, गुजरात और पंजाब के राजपूत राजाओं की सभाओं में भाट और चारण और अन्य कवियों के द्वारा काव्य-साहित्य में प्रयुक्त होने लगी। इस शौरसेनी अपभ्रंश का फैलाव इतना हुआ कि जिस वक्त बाहर से विदेशी तुर्क आने लगे, समग्र आर्य-भाषी उत्तर भारत में (महाराष्ट्र, सिन्ध और पंजाब से लेकर पूर्व बंगाल और नेपाल तक) कवि लोग इसका व्यवहार करने लगे। पण्डितों की संस्कृत के साथ-साथ, यह जनता की प्रधान साहित्यिक प्रकाश-भूमि हो गयी। विदेशी तुर्क आए और दिल्ली पर उन्होंने अपना आधिपत्य जमा लिया। उत्तर-भारत की बोलियाँ कदम बढ़ाकर आगे चलीं—शौरसेनी अपभ्रंश का ज़माना बीत गया, नई-नई साहित्यिक भाषाओं का उद्भव हुआ। अपभ्रंश और प्राकृत के विद्वान् इन दोनों भाषाओं में काव्य रचते थे—इस प्रकार, जनता में चालू बोलियों के आधार पर स्थापित नई साहित्यिक भाषाओं का ज़माना आ गया। शौरसेनी अपभ्रंश से एक पूरी तौर की साहित्यिक या किताबी भाषा निकली, जिसका नाम था "पिंगल", जो राजस्थान और उत्तर प्रदेश के भाट और चारणों की उपजीव्य भाषा हो गयी। शौरसेनी अपभ्रंश से आधुनिक आर्य-भाषा ब्रजभाषा का विकास हुआ; उधर इससे घनिष्ट रूप से सम्बन्धित राजस्थानी की अपभ्रंश से उत्पन्न पश्चिमी राजस्थानी ने अपना साहित्यिक रूप ग्रहण किया। (इस पश्चिमी राजस्थानी से "डिंगल" या पुरानी मारवाड़ी और उसके बाद आधुनिक मारवाड़ी, गुजराती, ये दोनों निकलीं।) पंजाब में शौरसेनी अपभ्रंश और उसके अर्वाचीन रूप ब्रजभाषा से मिली हुई मिश्रित पंजाबी बोली, साहित्य

में ईसवी १३वीं शती से प्रयुक्त होने लगी। और इधर दिल्ली के आसपास की बोली, जो एक ओर पंजाबी से और दूसरी ओर अपनी बहन ब्रजभाषा द्वारा प्रभावित थी, और स्वयं शौरसेनी अपभ्रंश ही का एक विशेष रूप थी, राजधानी की भाषा हो जाने के कारण उसे एक नई मर्यादा मिली, सदी-ब-सदी बढ़ती रही। दिल्ली की भाषा साहित्यिक रचना में धीरे-धीरे प्रवेश करने लगी—ईसवी १५वीं शती में वह कबीर जैसे सन्त कवि के पदों में ब्रजभाषा से मिश्रित होने लगी, और अन्त में दक्षिण में लाई गई पंजाबी-मिश्रित पछाँह की बोली (जिसे "दखनी" नाम मिला था) की देखा-देखी, दिल्ली की इस शुद्ध खड़ीबोली ने साहित्यिक क्षेत्रों में अवतरण किया। इसका नतीजा यह निकला कि ईसवी १८वीं शती में हिन्दुस्तानी (हिन्दुस्थानी), हिन्दी अर्थात् नागरी-हिन्दी, और उर्दू अर्थात् मुसलमानी हिन्दी दिल्ली की "खड़ी बोली" हिन्दी के इन तीन रूपों का उदय हुआ। तुर्क, पठान, भारतीय मुसलमान तथा मुग़लों के जमाने में, उत्तर-भारत की हिन्दू-संस्कृति का प्रधान माध्यम होने के कारण, ब्रजमंडल की भाषा ब्रज-भाषा और पूर्व की कोसली या अवधी, लगभग १७५० ईसवी तक उत्तर-भारत की शिष्ट और एक प्रकार की अन्तःप्रान्तिक भाषाएँ थीं। फिर, राजधानी दिल्ली के मुगल घरानों की और बादशाही दरबारों की भाषा होने के कारण, १८वीं शती के मध्यभाग से, दिल्ली की खड़ीबोली भी मुगल-साम्राज्य के हर सूबे में फैली—कहीं आम या साधारण जनता में व्यवहृत कथ्य भाषा हिन्दुस्तानी के रूप में, कहीं हिन्दुओं में प्रचलित और नागरी लिपि में लिखित खड़ीबोली हिन्दी के रूप में, और कहीं ज्यादातर मुसलमान समाज में मुसलमानी-हिन्दी या उर्दू के रूप में। लौकिक-संस्कृत, शौरसेनी प्राकृत और उसके एक प्राचीन साहित्यिक रूप पाली, शौरसेनी अपभ्रंश, ब्रजभाषा, खड़ीबोली हिन्दी या हिन्दुस्तानी—इसी परम्परा के मुताबिक हिन्दी चली आई है। हिन्दी के पीछे, कम-से-कम ढाई हजार वर्षों के अन्तःप्रान्तिक

मेलजोल का इतिहास है। अन्तःप्रान्तिक हिन्दी हमारे हिन्दू-युग के पूर्वजों से ही प्राप्त एक महत्त्वपूर्ण रिक्थ है; और भारत की मुसलमान राजशक्ति ने भी इसका पूरा उपयोग किया है—इसे अपने मुसलमानी भाव द्वारा सीमित तथा संकुचित करते हुए भी, यथाशक्ति इसे फैलाया ही है। उन्होंने भी इसे राष्ट्रभाषा बनाने में यों बहुत बड़ी मदद दी है।

मुसलमान और हिन्दी इन दोनों के संयोग का फल उर्दू है—हम लोगों में ऐसा जो विचार है, वह मामूली तौर पर है; पर वह ठीक नहीं है। जब हमारे विद्वान् लोग कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान जनता की सम्मिलित चेष्टा का नतीजा उर्दू है, उर्दू के बनाने में हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक ही उद्देश्य से काम किया है, कि हम ऐसी एक आमफ़हम भाषा तैयार करें, जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों समझ सकें—यह बात उर्दू की उत्पत्ति के ऐतिहासिक विचार से युक्तितर्कानुमोदित नहीं है। पंजाब से और पछाँह आकर, दक्षिण में ईसवी १४वीं शती से बसे हुए मुसलमानों ने, १५वीं शती में एक नई साहित्यिक भाषा की नींव डाली, जो पुष्ट होकर "दखनी" बनी। खड़ीबोली हिन्दी के साथ यह साहित्यिक दखनी अधिकतया मिलती जुलती है, अतः इसे हम एक प्रकार की "पुरानी हिन्दी" कह सकते हैं। उत्तर भारत से आयी हुई यह भाषा, मराठों में और तेलुगु, कन्नड़ इत्यादि द्रविड़-भाषियों में बसे हुए पंजाबी और हिन्दुस्तानी मुसलमानों द्वारा व्यवहार की जाती थी, जो कि इसे लिखने के लिए शुरू ही से (जहाँ तक दस्तावेज मिले हैं) फारसी या अरबी लिपि इस्तेमाल करते थे। इस कारण दक्षिण में इस भाषा को एक खास नाम मिला—"मुसलमानी।" पर पहले पहल दखनी में प्रयुक्त शब्द, अधिकतया शुद्ध हिन्दी और संस्कृत के शब्द ही होते थे। जब किसी इसलामी धार्मिक बात पर कुछ रचना दखनी में होती थी, तब विषय की विशेषता के कारण अरबी-फारसी अल्फ़ाज़ ज्यादातर इस्तेमाल किये जाते थे—जैसे कि दखनी की सबसे प्राचीन पुस्तक "मिराजु-ल्-

आशिक़ीन " में हम देखते हैं, जिसे लगभग १४वीं ईसवी शती के अन्त में, हज़रत सैयद मुहम्मद हुसैनी बंदानिवाज़ गीसू-दराज़ ने लिखा था। मामूली दखनी ग्रन्थों में शब्दावली हिन्दी ही की-सी होती थी, छन्द भी प्रायः हिन्दी के ही होते थे। दक्षिण में, उत्तर भारत के प्राचीन भारतीय अर्थात् हिन्दी-साहित्य-शैली से वियुक्त हो जाने के कारण और यह अरबी लिपि में लिखी जाती थी इस कारण भी ईसवी १६वीं शती से दखनी में अरबी-फारसी शब्दों का कुछ अधिक प्रयोग होने लगा। फारसी-साहित्य से परिचित सूफी साधक और आलिम, और बीजापुर, गोलकुण्डा आदि मुसलमान-राज्यों के दरबारी लोगों के हाथ, इसका वातावरण धीरे-धीरे फारसी साहित्य का-सा ही हो गया; पर इसकी शब्दावली ईसवी १८वीं शती तक मुख्यतया भारतीय ही थी। १७वीं शती के चतुर्थ चरण में दिल्ली से मुगल लश्कर द्वारा लाई हुई दिल्ली की खड़ीबोली, जो कि दक्षिण ही में " जबान्-ए-उर्दू-ए-मु 'अल्ला" और " हिन्दुस्तानी " कहलाने लगी—इस पर दखनी का असर पड़ने लगा; और कवि वली औरङ्गाबादी ईसवी १७२० के बाद दिल्ली में आकर जब बसे, तब से दिल्ली की खड़ीबोली उर्दू-साहित्य का आधार बनी। वली की भाषा देखिये—उसमें शुद्ध ठेठ हिन्दी के शब्दों की कुछ कमी नहीं है, उसका वातावरण भी ज्यादातर हिन्दी ही का है। दिल्ली के शरीफ मुसलमानों के सामने, वली की कविता एक नई दिलचस्प चीज बनी, जिसे उन्होंने फौरन अपनाया। यह तो उनकी घरेलू बोली ही थी, जो अब से उनकी मज़हबी लिपि से लिखने के काबिल दिखाई देती थी, और लिपि के कारण, आलिमों के प्रिय अरबी-फारसी शब्दों से जो भरी जाने के लायक थी। इसके पहले उनमें ब्रजभाषा का ही पठन-पाठन हुआ करता था; पर अब से ब्रजभाषा उनके लिए रोचक नहीं रही। मुसलमान राजशक्ति का ह्रास होने लगा—मराठे, सिक्ख और उसके बाद अंग्रेज़ प्रकट हुए, मुगलों का मुसलमानी गौरव

अतीत का सपना हो गया। इस अस्वस्तिकर अवस्था में, दिल्ली के खानदानी मुसलमानों के लिए एक mental and spiritual compensation अर्थात् आधिमानसिक तथा आध्यात्मिक क्षति-पूर्ति की सख्त जरूरत थी। उर्दू ने उसे पूरा किया। फारसी पढ़े-लिखे शरीफ और खानदानी मुसलमान बड़े ही हर्ष के साथ, फारसी काव्य के ढंग पर फारसी और अरबी शब्दों को चुन-चुनकर, हिन्दी भाषा में भी एक नया बिल्लौर का प्रासाद बनाने लगे, जो उर्दू काव्य-साहित्य के रूप में प्रकट हुआ। इस काम में विदेश से आये हुए कुछ मुसलमान दरबारियों ने बड़े जोश के साथ योग दिया—उत्तर-भारत की प्राचीन हिन्दी-साहित्य-शैली से न था उनका परिचय, न हो सका उनका सद्भाव। परन्तु भारत के अनेक खान-दानी मुसलमानों ने, शुद्ध हिन्दी के लिए सिफारिश की, शुद्ध हिन्दी में साहित्य-सर्जना से ये निरस्त नहीं हुए। एक उदाहरण लीजिए। ईसवी १८वीं शती में "गरीब" उपनाम के किसी मुसलमान कवि ने "तारीख गरीबी" के नाम से, नबियों की बात लिखी है। "काम तो उसने 'दीन' का ही किया, पर हिन्दी में किया। परिणाम यह हुआ कि, 'मज़हबी' लोगों का विरोध हुआ। उसने अपने पक्ष की पुष्टि में, प्रमाण पर प्रमाण दिये, और नज़ीर पर नज़ीर प्रस्तुत कीं।" कवि ने घोषित किया कि प्रचार के लिए हिन्दी ही में मुसलमानी धर्म की बातें मुसलमान कवियों ने की हैं।

गरीब कहते हैं—

"हिन्दी पर न मारो ताना ; सभी बतावैं हिन्दी माना।
यह जो है कुरआन खुदा का ; हिन्दी करैं बयान सदा का।
लोगों को जब खोल बतावैं ; हिन्दी में कह कर समझावैं।
जिन लोगों में नबी जो आया ; उनकी बोली सों बतलाया।
हिन्दी 'मेंहदी' ने फरनाई ; 'खूँदमीर' के मुँह पर आई।
कई दोहरे साखी बात ; बोले खोल मुबारक ज़ात।

मियाँ 'मुस्तफा' ने भी कही ; और किसी की फिर क्या रही।"

[कवि नूर मोहम्मद प्रणीत 'अनुराग-बाँसुरी', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा चन्द्रबली पांडेय का संस्करण, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ ३—४]।

पर फारसी-साहित्य और इसलामी मसर्रत में मस्त दिल्ली के और दूसरे स्थानों के मुसलमान कवि और अन्य लेखक नई भावना में डूब गये। वे हिन्दी से शुद्ध हिन्दी तथा संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करके, उन शब्दों के स्थान पर विदेशी अरबी और फारसी शब्द लाकर, एक नई मुसलमानी ज़बान या नई मुसलमानी शैली, उनमें से एक के कथन के अनुसार "हिन्द की नापाक ज़मीन पर" कायम करने में पूरे जोश के साथ लग गये। यह सब इतिहास आवश्यक दस्तावेज़ और प्रमाण आदि के साथ, श्री चन्द्रबली पांडेय ने अपनी हिन्दी-उर्दू-विषयक गवेषणात्मक पुस्तकों में लिपिबद्ध किया है। हिन्दी-उर्दू के सवाल पर विचार करनेवाला कोई भी इनके मूल्यवान् ग्रन्थों के पढ़ें बिना कुछ बहु-प्रचारित भ्रान्त धारणाओं से मुक्त नहीं हो सकता।

अरबी और फारसी शब्दों से भरपूर उर्दू की शैली, शुद्ध हिन्दी शैली से प्राचीनतर है, और उर्दू शैली हिन्दुओं की भी सानन्द सहयोगिता से बनी, यह ग़लत खयाल है। उर्दू अपनी उत्पत्ति के समय, ईसवी १८वीं शती में सचमुच एक Artificial Coterie Speech 'आर्टिफीशियल कोटेरी स्पीच' यानी एक विशिष्ट सम्प्रदाय की कृत्रिम या बनावटी भाषा ही थी। उसके बाद जब यह भारत में इसलामी सल्तनत के अस्तमित गौरव की स्मारक भाषा बनी, तब मुसलमान लोग सोचने लगे कि भारत में इसलाम की आत्मा इस बोली से ही अच्छी तरह से संरक्षित हो सकती है—क्योंकि पवित्र भाषा अरबी और सांस्कृतिक भाषा फारसी से इसकी लिपि बेशुमार अरबी और फारसी शब्द ला सकती थी—तब हिन्दीवाले मुसलमानों

में इसका प्रभाव बढ़ने लगा। मुसलमान शाही दफ्तरों में नौकरी करनेवाले कुछ कायस्थ और दूसरे हिन्दू, जो कि उस ज़माने की राजभाषा फ़ारसी के अच्छे विद्वान् बने थे, उनमें भी इस नई भाषा उर्दू के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण हुआ, क्योंकि फारसी से परिचय रहने के कारण और साथ-ही-साथ संस्कृत और शुद्ध हिन्दी-परिचय के अभाव से इनके लिए अदबी लुत्फ़ उर्दू ही से प्राप्त करना सहज था। उर्दू की प्रतिष्ठा में हिन्दुओं का सहयोग इतना ही हुआ था।

हिन्दी और उर्दू इन दोनों शैलियों का इतिहास जो कुछ भी हो, अब यह मानना पड़ेगा कि इस वक्त उर्दू शैली की अलग प्रतिष्ठा हो गयी है। पर साथ-साथ यह भी मानना चाहिए कि यह प्रतिष्ठा अब कुछ वर्षों से घटती जाती है। महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज की चेष्टा से देवनागरी हिन्दी ने पंजाब में अपने लिए फिर नये तौर से एक स्थान बना लिया है। "आर्य-समाज ज़िन्दाबाद—आर्य संगठन की जय हो"—पंजाब में कन्याओं की शिक्षा शुद्ध हिन्दी में होने के कारण, उस प्रान्त के उर्दू-पढ़े सैकड़ों नवयुवकों को भी, इन कन्याओं से विवाह के बाद, देवनागरी लिपि अपनानी पड़ी है; और हजारों बच्चे अपनी माताओं के पास जिस पहली शिक्षा को प्राप्त करते हैं, उन्हें अलिफ़–बे के स्थान पर क–ख–ग सीखने का अवसर मिलता है। पूर्व में बिहार के शिक्षा-विभाग के इन्सपेक्टर, बंगाल के शिक्षा-नेता और सुलेखक स्वर्गीय भूदेव मुखर्जी ने उस प्रान्त की अदालतों में नागरी लिपि को पुनःस्थापित करने की सफल चेष्टा की थी। नागरी-प्रचारिणी-सभा ने भी, देवनागरी लिपि तथा हिन्दी-शैली के प्रचार और प्राचीन तथा आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उद्धार के लिए अनमोल सेवा की है। उत्तर प्रदेश के लाट मैकडोनल साहब ने नागरी लिपि और हिन्दी भाषा को अपना न्याय्य स्थान देकर लोगों का साधुवाद प्राप्त किया। हिन्दी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ धीरे-धीरे

उर्दू से कई गुना बढ़ती जाती है। आहिस्ते-आहिस्ते हिन्दी का स्थान इस कदर होते हुए भी, इसके मुकाबिले उर्दू को, अंग्रेज सरकार की पक्षपातपूर्ण पृष्ठपोषकता के कारण, अपने हक से अधिक मर्यादा मिली है। भारतीय फौज में तो उर्दू ही का राज है, और ऐसी कुछ राष्ट्रीय कार्रवाइयों में अरबी अलफ़ाज से लदी हुई उर्दू पर अंग्रेज सरकार की मोहब्बत हिन्दी से अधिक है। अखिल भारत के लोग ८० प्रतिशत शुद्ध हिन्दी के संस्कृत शब्द समझ लेंगे, खालिस उर्दू के फारसी और अरबी अलफाज़ नहीं। तो भी, ऑल-इण्डिया-रेडियो के काम-काज में " हिन्दुस्तानी " के नाम से अरबी-फारसी शब्दों से भरपूर उर्दू ही का अब तक बोलबाला है।

भारतीय राजनीति के क्षेत्र में मुसलमानों का अन्याय और राष्ट्र-विरोधी दावों को मानते-मानते, हम ऐसी अवस्था में आ पहुँचे हैं, कि अपनी निजी भाषा का भी उर्दू के नाम पर बलिदान करने को हम तैयार हो गये हैं। समस्या कठिन है—पर इसे हल करना तो होगा ही। हम उर्दू के अरबी-फारसी लफजों से नहीं डरते। भाषा में आगत—यहाँ तक कि सिर्फ उर्दू में आगत—हजारों अरबी-फारसी शब्द हम हिन्दी में अक्सर व्यवहार करते हैं; ये सब शब्द हिन्दी द्वारा हजम किए जा चुके हैं। इन्हें हिन्दी से बहिष्कार करने की बात भी कभी नहीं सुनाई देती; पर उर्दू में शुद्ध हिन्दी और संस्कृत शब्दों के लिए ऐसी उदारता कहाँ है? हिन्दी में शुद्ध हिन्दी तथा संस्कृत प्रतिशब्द के रहते हुए भी, जहाँ हम सैकड़ों हजारों अरबी-फारसी शब्द प्रयोग करते हैं, उर्दू वहाँ एक भी संस्कृत शब्द पर आत्मीय भाव प्रकट नहीं करती। सिनेमा की खिचड़ी हिन्दी या हिन्दुस्तानी को भी हम बर्दाश्त कर लेते हैं—जो कभी-कभी इतनी पीड़ादायक होती है कि उसके बारे में क्या कहें। यह हम जानते हैं कि शुद्ध हिन्दी तथा संस्कृत शब्दों के साथ मौके पर उन शब्दों के अरबी और फारसी प्रतिशब्द व्यवहार करने के रिवाज ने हमारी हिन्दी को

इतनी शक्तिशाली और सूक्ष्म-भाव-द्योतक भाषा बना दिया है। बहुत दूर तक, हिन्दी इस विषय में उर्दू का साथ दे सकती है। पर सांस्कृतिक मामले में, उच्चकोटि के शब्दों के बारे में शुद्ध हिन्दी तथा संस्कृत के अस्तित्व को एकदम अस्वीकार कर देना, और हर बात में भिखारी बनकर फारसी और अरबी के दरवाज़े पर खड़ा रहना, इतनी दूर तक चलना, सांस्कृतिक आत्महत्या के बराबर है।

आज-कल की भारतीय भाषाएँ, अधिकतया आत्मनिष्ठ या आत्म-निर्भरशील नहीं होतीं, ये ज्यादातर "पर पुष्ट" बनी हैं। आवश्यकता के अनुसार, ये अपने धातु और प्रत्ययों के सहारे नये-नये शब्द नहीं बना पातीं—ये अधिकतर दूसरी किसी भाषा से शब्द उधार लेती हैं। हिन्दी भी ज्यादातर ऐसी borrowing या उधारशील भाषा बनी है—building या शब्द-बनानेवाली भाषा नहीं। इसकी उत्पत्ति से यह अपनी दादी संस्कृत की वारिस या उत्तराधिकारिणी बनकर संस्कृत शब्द लेती आती है। जब फारसी भाषा भारत में प्रतिष्ठित हुई, तब से हजारों फारसी और अरबी शब्दों को भी इसने आत्मसात् किया। अंग्रेजी तथा यूरोपियन भाषाओं के लिए इसके द्वार खुले हैं। पर कम-से-कम तीन हजार वर्षों का जो संयोग भारतीय सभ्यता का संस्कृत से है, उसे हम कैसे त्याग दें? तीन हजार वर्षों के प्राण-वन्त संयोग को हम ऐसी भाषा-शैली के चरणों पर निछावर नहीं कर सकते, जैसी कि—

"फलक पर्दा बना अहले जमीं की पर्दापोशी की।
मगर इस दुश्मनेजाँ ने किसी का ऐब कब ढाँका॥"

अथवा—

"बूये गुल नालये दिल बूदे चिरागे महफिल।
जो तेरी बज़्म से निकला सो परेशाँ निकला॥"

अथवा—

"ऐ सपहरे-बरीं के सैय्यारो! ऐ फिज़ाए-ज़मी के गुलज़ारो!"

अथवा—

" कभी, ऐ मुन्तज़रे-हक़ीक़त् ! नज़र आ लिबासे-मिजाज़ में। "

अथवा—

" जुरआत्-आमेज़ मेरी ताबे-सुखन है मुझको।
शिकवाह अल्लाह से, खाकम्ब-दिहन है मुझको ॥ "

संस्कृत की पूरी तौर से इन्कार करनेवाली ऐसी शैली को भारत के संख्याभूयिष्ठ हिन्दू कभी नहीं मान सकते।

इस विषय पर बात साफ और खुलासा होनी चाहिए। मेरे विचार में यदि हिन्दी और उर्दू शैलियों को एक करके एक नई राष्ट्र-भाषा बनाना हो, तो यह राष्ट्रभाषा खास करके, इसलामी तमद्दुन की ज़बान नहीं होगी। यह सोचकर इन तीन नीतियों को न्याय की दृष्टि से मान लेना चाहिए—

[१] जहाँ तक हो सके, शुद्ध हिन्दी धातु, प्रत्यय और शब्दों से आवश्यक नये शब्द बनाये जाएँ।

[२] खास करके इसलामी मज़हबी और तमद्दुनी मामलों के शब्द मुसलमानों की रुचि के अनुसार अरबी या फारसी से लिये जाएँ; और—

[३] इसके अलावा, आवश्यक होने से संस्कृत को छोड़कर बाहर की किसी भाषा के शब्द जितने ही कम हो सकें उधार लिये जाएँ।

एक मूल भाषा थी "हिन्दी" या "हिन्दवी" या " भाषा " नाम की, जिसके कई रूप-भेद थे, जिनमें एक मुख्य साहित्यिक रूप का नाम था "ब्रजभाषा" या "ग्वालियरी"। ईसवी १५वीं शती से इससे दिल्ली-मेरठ की बोली का मिश्रण होने लगा, जैसा कि सन्त कबीर के ग्रन्थों में हम देखते हैं। इस मिश्रित बोली के साथ फिर कुछ पंजाबी का भी मिश्रण हुआ। सिक्ख सम्प्रदाय के माननीय गुरुओं के द्वारा रचित भाषा यही है, जो कि श्री गुरु-ग्रन्थ में ज्यादातर मिलती है। पंजाबी

से मिश्रित यह हिन्दी बोली दक्षिण में उत्तर हिन्दुस्तान, पछाँह और पंजाब से आये हुए मुसलमानों में प्रतिष्ठित हुई, और वहाँ उनके हाथ इससे साहित्यिक दखनी बनी, जिसका जिक्र हमने ऊपर किया है। केवल ईसवी १८वीं शती में, इस हिन्दी बोली के समूचे संस्कृत और अधिक-से-अधिक हिन्दी शब्दों को निकाल कर, उनके स्थान पर अरबी और फारसी शब्द लाकर और उसे अरबी लिपि में लिखकर, एक नई साम्प्रदायिक भाषा बनी, जिसका ठीक परिचय "मुसलमानी-हिन्दी" इस नाम ही से हो सकता है, और जो ईसवी १८वीं शती के द्वितीयार्द्ध से "उर्दू" कहलायी। मुगलराज्य, और उसके स्थान पर अपने को कायम किये हुए अंग्रेज सरकार के ज़रिए, यह उर्दू अदालतों में और सरकारी कामों में प्रतिष्ठित हो गयी; और, दखनी से प्राप्त हुई साहित्यिक दृष्टि से उत्पन्न इसका नवीन साहित्य भी बनने लगा। अदालतों के जरिए उर्दू की चाल अस्वाभाविक रूप मे बढ़ गयी। यह अस्वाभाविकता ईसवी १९वीं शती के चतुर्थ चरण से घटने लगी। संख्या-बहुल हिन्दू जनसाधारण अपनी संस्कृति का ज्ञान बढ़ाने लगे, और इससे संस्कृत भाषा को अपना न्याय्य स्थान कुछ मिल गया। १५० वर्षों की चेष्टा से—विशेष करके विगत पचास वर्षों के प्रयत्न से, राष्ट्रीय भाव से भरपूर हिन्दी की जो अभिव्यञ्जनामयी शैली बन चुकी है, वह हिन्दी संसार की एक अनमोल सम्पत्ति है। राष्ट्रीय एके के नाम से मुसलमानों के कुछ कट्टर लीडरों को खुश रखने के कारण अब वह नष्ट हो जानेवाली है। रेडियो, सरकारी विज्ञापन, बहुत सी फिल्में, कांग्रेस के कुछ सदस्यों के भाषण, कहीं-कहीं स्कूल-पाठ्य पुस्तकें, तथा "हरिजन-सेवक" जैसी पत्रिका की खिचड़ी भाषा की कृत्रिम अनुवाद-शैली—इन सभों में, मर्यादापूर्ण, भाव-गम्भीर, शक्तिशाली शुद्ध हिन्दी का भाषा-शैली पर आक्रमण हो रहा है। हिन्दुस्तानी के नाम से हिन्दी का सत्यानाश करो—परन्तु उर्दू ज्यों-की-त्यों बनी रहे और फलती-फूलती रहे। कोई भी मुसल-

मान, खालिस उर्दू को छोड़, इस हिन्दी-मिश्रित उर्दू में कुछ लिखता नहीं ; और कांग्रेस के प्रति श्रद्धा के कारण, हिन्दू लेखक जो कुछ लिखता है, वह केवल अनुवाद के रूप में, एक कृत्रिम शैली की भाषा में कुछ लिखने का tour de force अर्थात् 'कर्तब' ही मात्र होता है। कांग्रेस के साथ सहानुभूति के कारण सब कोई इस हिन्दुस्तानी शैली को मान लेते हैं, "हिन्दुस्तानी", "हिन्दुस्तानी" की रट लगाते हैं; पर जिसे हम "कांग्रेसी-हिन्दी" कह सकते हैं, उसके बाहर कहीं भी इसका प्रयोग नहीं दीखता। काशी विश्वविद्यालय ने शुद्ध हिन्दी ही को मान लिया है, पर लखनऊ में "हिन्दुस्तानी" के नाम से, अलग-अलग हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियाँ और तीन लिपियाँ (देवनागरी अरबी और रोमन) स्वीकृत हो गयी हैं।

हिन्दी के अखिल-भारत-व्यापी प्रसार का कारण क्या है, इसे भूलने से नहीं चलेगा। गुजरात, महाराष्ट्र, नेपाल, असम, बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्रदेश, कर्णाटक, तमिलनाडु और केरल, तथा पंजाब, काश्मीर और सिन्ध के हिन्दू लोग—इनकी प्रीति हिन्दी से सिर्फ हिन्दी की दो विशिष्टताओं के लिए ही है—एक, हिन्दी की देवनागरी लिपि ; और दो, इसके उच्चकोटि के संस्कृत शब्द। यह भी याद रखना चाहिए, कि तीस करोड़ हिन्दुओं की धार्मिक तथा सांस्कृतिक-भाषा संस्कृत की सर्व-जन-मान्य अखिल-भारतीय-लिपि देवनागरी ही बनी है। इन दोनों से हिन्दी को अलग कर, यदि हिन्दुस्तानी को इसके स्थान पर बिठा दिया जाय, तो इसकी लोक-प्रियता एकदम मिट जायगी। अहिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार किस अवस्था में जा रहा है, उस पर नेत्रपात कीजिए। लिपि का प्रश्न पहले ही आता है—लोग देवनागरी-लिपि मान लेते हैं, उर्दू-लिपि से घबरा जाते हैं। सुबोध्य संस्कृत शब्दों के स्थान पर अबोध्य या दुर्बोध्य अरबी-फारसी के शब्दों से लोग और भी घबराते हैं।

भारत के मुसलमान आखिर उस अवस्था में आ जाएँगे, जिसमें

तुर्की और ईरानी मुसलमान पहुँच गये हैं। राष्ट्रीयता के साथ ही साथ तुर्क और ईरानियों में (और सुनते हैं, अफगानों में भी) स्वाजात्य-बोध और अपनी भाषा और संस्कृति पर आत्मीयता-बोध इतना बढ़ गया है, कि तुर्क लोग अपनी भाषा से अरबी और फारसी शब्दों का, और ईरानी लोग फारसी भाषा से अरबी शब्दों का, यथासम्भव बहिष्कार करने के काम में दत्तचित्त हुए हैं। तेहरान का विश्वविद्यालय आजकल "दारुल-'उलूम" नहीं है, वह अब "दानिश-गाह" बन गया है। "बिस्मिल्लाहि-र्-रहमानि-र्-रहीम" की जगह "ब-नाम-ए-खुदा-बन्द-ए-बख्शीन्द:-ओ-मिहिरवान्" लिखते हैं। तुर्की में इस वक्त "अल्लाह" के स्थान पर तुर्की भाषा के पुराने ईश्वर-वाचक शब्द, यथा "तेन्री, इदि, मुनकु" पुनरुज्जीवित किये गये हैं; और नये कानून के मुताबिक अरबी भाषा विदेशी होने के कारण उसमें आज़ान देना भी दण्डनीय अपराध गिना जाता है—किसी मसजिद से अगर आज़ान देना हो, तो तुर्की-भाषा में ही देना पड़ता है—"अल्लाहो अकबर" के स्थान, लाईसेंस पाये हुए मुल्ला लोग तुर्की में पुकारते हैं—"तेन्री उलुघ् दिर्" अर्थात् "ईश्वर श्रेष्ठ है"। भविष्य में शिक्षा की वृद्धि के साथ भारतीय मुसलमान का दृष्टिकोण भी बदल जायगा, संस्कृत शब्द तथा उनके अपने ही हिन्दू, जैन और बौद्ध पूर्वजों से प्राप्त, भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में, उनका मानसिक वातावरण भी दूसरा हो जायगा। पुराने जमाने में भाषा के विषय में भारतीय मुसलमान इतने असहिष्णु नहीं थे। अरबी "अल्लाह" और फारसी "खुदा" के साथ-साथ, उत्तर-भारत के मुसलमान, "कर्तार, साईं, गुसाईं" आदि शुद्ध हिन्दी शब्द व्यवहार करते थे, देहात में कहीं-कहीं अब तक करते हैं। बुत-शिकन सुलतान ग़ाज़ी महमूद गजनवी ने अपनी भारतीय प्रजा के लिए चाँदी का सिक्का चलाया था, जिसमें भारतीय लिपि और संस्कृत भाषा में, मुसलमानों के धर्म-बीज कलमा-मन्त्र का अनुवाद था—"अव्यक्तम् एकम्, मुहम्मद अवतार:", और बादशाह का

नाम तारीख आदि भी यों दिये थे—"नृपतिः श्री महमूदः। अयं टंकः महमूदपुरे घट्टे आहतः"। तारीख में "हिजरी" शब्द का भी संस्कृत अनुवाद किया गया—"जिनायन वर्ष" अर्थात् नबी या जिनके अयन—अर्थात् पलायन—का वर्ष। खुद बादशाह औरङ्गजेब आलमगीर ने दो प्रकार के आम के नाम रखने के लिए अपने पुत्र द्वारा अनुरुद्ध होकर ये नाम दिये थे—"रसना-विलास" और "सुधारस"। संस्कृत के सम्बन्ध में, भारतीय मुसलमान का पूर्व इतिहास ऐसा है; भविष्य में जरूर ये तुर्कों और इरानियों के दृष्टान्त का अनुसरण करेंगे ही: तो बीच में, क्यों हम भारतीय राष्ट्रभाषा हिन्दी के संस्कृत शब्दों का विरोध कर, उन्हे भाषा से निकालने का या उन्हें सीमित करने का अनुचित प्रयास करें?

सीधी बात तो यही कि भारत की राष्ट्रभाषा को "हिन्दी" कहिये, "हिन्दुस्तानी" कहिये, "हिन्दुस्थानी" कहिये, "आर्यभाषा" कहिये, "भारती भाषा" कहिये, मौके पर "उर्दू" भी कहिये, चाहे जो कुछ कहिये, पर संस्कृत से इसके सम्पर्क को दूर करने की किसी प्रकार की चेष्टा न कीजिये।

सब लोग जानते हैं, कि हिन्दी-उर्दू का सवाल मुख्यतया लिपि ही का सवाल है। हिन्दी की देवनागरी और उर्दू की अरबी लिपि, इन दोनों की तुलना करना फिजूल है। विचार और युक्ति की राह से देवनागरी के मुकाबिले उर्दू-लिपि के पक्ष का समर्थन हो ही नहीं सकता। Pan-Islamism या विश्व के मुसलमानों के धार्मिक ऐक्य के ख्वाब देखनेवालों की भावना के सिवाय, इसके पक्ष में कोई भी युक्ति नहीं है; और ईसवी १९४७ में Pan-Islamism की आवाज, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जलसों में बेसुरी लगेगी। राष्ट्रीयता, इतिहास, विज्ञान, देशव्यापी प्रसार, जिस किसी दृष्टिकोण से विचार किया जाय, देवनागरी या भारतीय लिपि सभी भारतीय भाषाओं के लिए उपयोगी है, उर्दू या अरबी-लिपि कदापि किसी रूप में नहीं।

परन्तु भारत के मुसलमान यदि इस लिपि पर अपने प्रेम को नहीं त्याग सकें, तो अपने खास कामों के लिए उनमें इतना व्यवहार खैरियत से चालू रहे ; हम भी उर्दू या अरबी-लिपि की खुशनवीसी से अपने सौन्दर्य-बोध को तृप्त करेंगे। पर भारत के संख्या-गरिष्ठ मनुष्यों पर, जिनका अरबी लिपि से कोई भी सरोकार नहीं, इस लिपि का लादने की अपचेष्टा न की जाय।

राष्ट्रभाषा हिन्दी, जो कि हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान आदि सबों के लिए होगी, उसमें इस लिपि-समस्या को मिटाने के कई उपाय हो सकते हैं—

[१] दोनों लिपियों को चालू रखना, (क) देश, काल और पात्र के अनुसार, इनमें एक को ऐच्छिक और दूसरी को अनिवार्य रखकर; या (ख) दोनों ही को सर्वत्र, और सर्वकाल अनिवार्य रखकर;

[२] राष्ट्रीय काम में सिर्फ एक ही को रखना, दूसरी को छोड़ देना ; और—

[३] इन दोनों की जगह एक तीसरी नई लिपि (जैसे रोमन) को लाना।

[१] (क) उपाय कांग्रेस ने करीब-करीब इन शब्दों से अब तक मान लिया था—

The National language of India is Hindustani, which can be written in either the Nagari or the Urdu script; इससे किसी सूरत से काम चलता था, पर इससे भी कुछ मुसलमान खुश न थे। [१] (ख) उपाय महात्मा गांधी के निर्देशानुसार एक विवादास्पद प्रश्न बनकर अब हमारे समक्ष आया है। गांधीजी की राय इस प्रकार है (कुछ मुसलमान नेता भी ऐसा चाहते थे) कि राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, नागरी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जाय—हर वक्त इसे इस प्रकार दुहराना होगा, और यथासम्भव इन दोनों लिपियों की हिन्दुस्तानी के शब्द एक ही रहेंगे। यह कहाँ तक

हो सकेगा, यह विचारणीय है। हमें तो यह पंथ कार्यकर नहीं लगता। भाषा यदि एक होनी हो, तो उसकी लिपि भी एक होनी चाहिए। नागरी और उर्दू लिपियाँ इतनी परस्पर-विरोधी हैं, कि एक भाषा के लिए इन दोनों को साथ-ही-साथ सर्वजनगृहीत करना निहायत कठिन काम होगा—विभिन्न पथगामी दो घोड़ों पर एक साथ सवार होने के सदृश यह दुःसाध्य या असाध्य व्यापार होगा। जहाँ देवनागरी चालू नहीं है, ऐसे अहिन्दी प्रान्तों में यह लिपिद्वैध हिन्दी या हिन्दुस्तानी सीखने से लोगों को डरा-भगा रहा है।

[२] उपाय—जब तक हमारे उर्दूवाले मुसलमान भाइयों के साथ मिल-जुलकर काम करना है, और साथ-ही-साथ हिन्दी या हिन्दू संस्कृति की रक्षा करनी है, तब तक यह नहीं होने का। हिन्दू देवनागरी के स्थान पर उर्दू-लिपि नहीं स्वीकार करेंगे ; मुसलमान उर्दू-लिपि को छोड़ना भी नहीं चाहेंगे। यद्यपि राष्ट्रीयता की दृष्टि से बहुमत की दृष्टि से, इतिहास की दृष्टि से तथा वैज्ञानिक दृष्टि से देवनागरी-लिपि का दावा ही मान्य है, तो भी अधिकतया मुसलमान लोग इसे मान लेंगे, इसकी सम्भावना नहीं दिखाई देती।

[३] तृतीय उपाय जो प्रस्तावित हुआ है, वह यह बात है कि, हिन्दी या उर्दू का विरोध दूर करने के लिए, सिर्फ राष्ट्रीय काम-काजों के लिए, जहाँ दोनों सम्प्रदायों की बात है, अन्तर्जातिक रोमन लिपि को हम अपनाएँ। मैं तो स्वयं इसी मत के पक्ष में हूँ। ब्राह्मी-लिपि से उत्पन्न नागरी आदि भारतीय-लिपियों के वर्णों का क्रम, जो कि संस्कृत के व्याकरणकारों के अद्भुत ध्वनिज्ञान का परिचायक है, उस क्रम को हम कभी नहीं छोड़ सकते। उस क्रम के अनुसार सजाई हुई रोमन-लिपि से, हम सर्व-सम्प्रदाय-ग्राह्य एक Indo·Roman या "भारत-रोमक" वर्णमाला बना सकते हैं, जो हमारे राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक-जीवन में विशेष उपयोगी हो सकती है। मेरी राय में रोमन लिपि के उपयोग से हमारी सांस्कृतिक हानि कुछ भी नहीं

होगी, जैसे घड़ी, गर्मीनाप, खुर्दबीन, दूरबीन आदि यूरोपीय यन्त्रों से; जैसे यूरोपीय ढङ्ग के कोट आदि पोशाक से हमारी भारतीयता के ऊपर कोई दाग नहीं लगता। इस विषय पर मैंने अन्यत्र अपने वक्तव्यों को विशद रूप से प्रकाशित किया है। इस समय रोमन के विपक्ष में चाहे जितना ही विरोध हो, जो विरोध अधिकतया अज्ञान-प्रसूत या विचार-हीन है—मेरा स्थिर विश्वास है, कि आखिरकार स्वेच्छा से हम भारतीय सभी भाषाओं के लिए रोमन-लिपि को अपना लेंगे। नेताजी सुभाषचन्द्र ने भी कांग्रेस के हरिपुरा-अधिवेशन में भारत की राष्ट्रभाषा के लिए रोमन-लिपि के सम्बन्ध में कहा था कि युक्ति और विचार के साथ यह सोचने की बात है। इस अवसर पर इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना अनावश्यक होगा। जब तक रोमन लिपि के लिए भारतीय शिक्षित जनों का दृष्टिकोण बदल नहीं जाय, तब तक सब भारतीय भाषाओं की एक-मात्र लिपि देवनागरी ही हो सकती है, यह मेरा निष्कर्ष है।

देवनागरी बनाम उर्दू या अरबी—इन दोनों लिपियों के बारे में मेरा विचार यह है। जब तक भारत के उर्दूवाले मुसलमानों में राष्ट्रीयता-बोध न आये और जब तक अपनी ही इच्छा से भारतीय लिपि देवनागरी को ये अपनाना न चाहें, तब तक राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए, जहाँ इनकी माँग हो, वहाँ उर्दू-लिपि में ही लिखी जाय—जैसे अब तक काँग्रेस के निर्देश के अनुसार हो रहा है। और इनको यह सुभीता भी दिया जाय, कि उर्दूलिपि में लिखी हुई राष्ट्रभाषा, साहित्यिक उर्दू से मिलती-जुलती रहे; पर संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करके बनी हुई नये ढङ्ग की हिन्दुस्तानी से, जो कि आसानी से उर्दू-लिपि में लिखी जा सकती है, हमारी हिन्दी की रक्षा हो। राष्ट्रीय या अन्तःप्रांतिक सभाओं में, उर्दूवाले मुसलमान सदस्य, अपनी खास अरबी-फारसी-भरी उर्दू-शैली की हिन्दी या हिन्दुस्तानी में व्याख्यान दें या बहस करें, जैसा ये अब करते हैं; पर श्रोताओं को समझाने के

लिए आवश्यकता के अनुसार शब्दों के अर्थ की व्याख्या भी करें, शुद्ध हिन्दी के बोलनेवाले भी ऐसा ही करें। इससे फिजूल दोहराने में कुछ कालक्षेप होगा ; पर जैसी अवस्था वैसी ही व्यवस्था भी करनी होगी। राष्ट्रभाषा से संस्कृत को बिदा कर देना, भारतीय राष्ट्रीयता तथा संस्कृति का परिपंथी या घातक होगा ; और भारत की दूसरी भाषाओं के लिए भी हानिकर होगा।

देवनागरी के सहारे हम प्रान्तीय भाषाओं के सम्बन्ध को घनिष्ट बना सकते हैं। जो-जो भारतीय आर्य-भाषाएँ अभारतीय-लिपि में लिखी जाती हैं, हिन्दी के इतिहास की पूरी चर्चा के लिए उनके साहित्य के मुख्य ग्रन्थों को देवनागरी में छपाने का प्रबन्ध होना चाहिए। जैसे दखनी का पुराना साहित्य ; सिंधी-भाषा के प्रधान पुराने ग्रंथ, और कुछ नये ग्रन्थ, और कुछ नये ग्रन्थ भी ; पंजाबी, काश्मीरी आदि के ग्रन्थ। सिंधी-भाषी भाग्यवानों की कुछ कमी नहीं है ; उनकी दृष्टि इधर आकर्षित होने से, अखिल भारत के हिन्दी-पाठकों के सामने, सिन्धी-साहित्य का दरवाजा खोल दिया जायगा। तुलनात्मक भाषातत्त्व तथा साहित्य के इतिहास की आलोचना के लिए, यह बड़ा ही उपयोगी होगा। खुशी की बात है कि, श्रीगुरु-ग्रंथ का एक अच्छा नया देवनागरी संस्करण निकल गया है। ग्रन्थ-साहब के कुछ फुटकर अंश भी देवनागरी-लिपि में हिन्दी टीका के साथ निकले हैं, और कुछ पंजाबी साहित्य भी देवनागरी में छपा है। रवीन्द्रनाथ की "गीतांजलि" का एक देवनागरी संस्करण प्रकाशित हुआ था, वह अब खतम हो गया है। ऐसी और भी पुस्तकें देवनागरी में प्रकाशित होनी चाहिएँ।

हिन्दी के प्रचार के लिए और भी एक काम किया जा सकता है। कोई इसे देवनागरी अक्षर के लिए हानिकर न समझे। हर सिक्के की दो तरफें होती हैं। प्रान्तिक लिपियों में यदि कुछ हिन्दी साहित्य, प्रान्तिक भाषाओं में अनुवाद के साथ, प्रकाशित किया जाय

तो उससे अहिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी की लोकप्रियता खूब बढ़ सकती है। अपनी सुपरिचित लिपि में हिन्दी के कुछ क्लासिक्स अर्थात् प्रमाण्य सत्साहित्य मिलने से, लोगों की प्रीति उस पर और अधिक होती है। ऐसे बंगला-लिपि में सानुवाद तुलसी-रामायण, कबीर के पद, श्रीगुरु-ग्रंथ के कुछ अंश, चालू हिन्दी के दोहे आदि का संग्रह, दादू की ग्रन्थावली—ये सब मिलते हैं, और अपनी लिपि में होने के कारण, बङ्गाली पाठक इन्हें बड़े चाव से पढ़ते हैं। पंजाब में हिन्दी के प्रचार में, संस्कृत शैली की शुद्ध हिन्दी में लिखी हुई और उर्दू लिपि में छपी हुई आर्यसमाज की पुस्तकों ने, कितना काम किया है, यह सबको विदित है। गुजराती-लिपि में भी हिन्दी की पुस्तकें छपी हैं। ऐसे बङ्गला, उड़िया, तेलुगु-कन्नड़ी ग्रन्थ, केरल, और आवश्यक होने से सिन्धी, काश्मीरी और उर्दू लिपियों से काम निकाला जाय तो मेरी अभिज्ञता के अनुसार, हिन्दी-प्रचार में अच्छी सहायता मिलेगी। भाषा पर और उसके साहित्य पर प्रीति की उपज के बाद, उसकी लिपि को अपनाने में देर नहीं लगती—प्रेम के कारण, कठिनाई की चिन्ता दूर हो जाती है।

देवनागरी-प्रेमी के लिए यह एक आनन्द का समाचार है कि देवनागरी टेलीप्रिंटर या दूर-मुद्रण और देवनागरी लाइनों का "की बोर्ड" या अक्षर-वेदी या कुंजी-फलक अमेरिका में बन गए हैं—इससे देवनागरी के मुद्रण में प्रभूत लाभ होगा। इस यान्त्रिक उद्भावन के लिए, पटने के विज्ञान कालेज के अध्यापक श्री कृपाशंकरजी मिश्र की धर्मपत्नी श्रीमती सरला देवी, हमारे साधुवाद की पात्री हैं।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी मय उर्दू, चौदह करोड़ मानवों की साहित्यिक भाषा और सम्मिलित जीवन की भाषा में विराजमान है। इसके अलावा, इन चौदह करोड़ को लेकर, लगभग छब्बीस करोड़ लोगों की स्वाभाविक अन्तःप्रान्तिक भाषा हिन्दी ही है। इस समय पृथिवी की जनसंख्या करीब दो सौ करोड़ की है। इन लोगों में

लगभग एक हजार बड़ी-बड़ी भाषाएँ और छोटी-छोटी बोलियाँ प्रचलित हैं। प्रतिष्ठापन्न बड़ी-बड़ी भाषाएँ, जो कि करोड़ों लोगों के द्वारा बोली जाती या व्यवहार की जाती हैं, उनमें संख्या के हिसाब से हिन्दी (या हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दुस्थानी) का स्थान तृतीय है। प्रथम स्थान है उत्तर-चीनी भाषा का, जो चीन के पचास करोड़ में से, करीब चालीस करोड़ लोगों की घरेलू बोली है। द्वितीय है अंग्रेजी, जो सोलह करोड़ लोगों की मातृभाषा है, और इसके अतिरिक्त विभिन्न जाति के ब्रिटिश साम्राज्य और अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्र के अधिकार-भुक्त, पचास करोड़ मानवों की राजभाषा है। तीसरा स्थान हिन्दी का है। इसके बाद, संख्या के क्रम से ये भाषाएँ हैं—रूसी, जर्मन, जापानी, हिस्पानी, बंगला। (भारत में बंगला सबसे ज्यादा संख्या की जनता की मातृभाषा या घरेलू भाषा है—छह करोड़ से अधिक लोग बंगला बोलते हैं; हिन्दी या हिन्दुस्तानी इतने अधिक संख्या के मानवों की मातृभाषा न होते हुए भी इसका प्रसार-क्षेत्र, सबसे बढ़कर है, और भारत की प्रतिभू भाषा हिन्दी ही है।) अफगानिस्तान के पूर्व से बंगाल की पश्चिमी हद तक, जम्मू और नेपाल तराई से महाराष्ट्र और उत्कल तक, हिन्दी का क्षेत्र है। पर इस विशाल भूखंड के लोगों की मातृभाषा एक नहीं, बहु है; यद्यपि इनकी शिक्षा और साहित्य में और बाहरी जीवन में, हिन्दी (या उर्दू) का ही प्रयोग होता है। लहंदे या पश्चिम पंजाब की "हिन्दकी" गोष्ठी की बोलियाँ; पूर्वी-पंजाबी और डोंगरी; कुलूई, चम्मेआली, सिरमौड़ी, मंडेआली, भद्रवाही, पाडरी, किऊंठाली आदि पश्चिम हिमाली बोलियाँ; मध्य-हिमाली बोलियाँ—गढ़वाली और कुमाऊँनी; राजस्थान और मालव की बोलियाँ; कोसली या पूर्वी-हिन्दी बोलियाँ—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी; बिहारी बोलियाँ—भोजपुरी, संथाली, मगही, मैथिली;—घर में इन सब बोलियों का व्यवहार जो लोग करते हैं, उनके बाहरी जीवन में, समवेत जीवन

में, केवल हिन्दी (या उर्दू) ही चालू हो गई है। ये सब बोलियाँ, या तथाकथित उपभाषाएँ, व्याकरण की दृष्टि से, पछाँही हिन्दी-भाषा और पछाँही-हिन्दी-बोलियों से (अर्थात् दिल्ली की खड़ीबोली और उसके आधार पर बनी हिन्दी और उर्दू, तथा बाँगरू, जनपद हिन्दुस्तानी, ब्रजभाषा, कनौजी और बुन्देली से) थोड़ी-बहुत पृथक् हैं। जहाँ पछाँही हिन्दी से पार्थक्य ज्यादा है, भाषातात्त्विक दृष्टि से जहाँ हिन्दी (और उर्दू) की छाया में लायी गई बोलियाँ, जहाँ केवल बोलियाँ वा उपभाषाएँ नहीं हैं, पर अलग या स्वतन्त्र भाषाएँ हैं, वहाँ हिन्दी या हिन्दुस्तानी को सीखने में और इसे शुद्ध रूप में प्रयोग करने में, कठिनाई अवश्य होती है। कहीं-कहीं बच्चों की शिक्षा में, हिन्दी एक मुसीबत-सी हो जाती है। इसलिए, ऐसा प्रस्ताव किया गया है कि शिक्षा के प्रचार के लिए प्रान्तिक या विभिन्न जनपद के स्थानीय साहित्यों की उन्नति के लिए हिन्दी को शिक्षा की—कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा की—माध्यम नहीं रखा जाय ; उसके स्थान पर, आवश्यकता के अनुसार प्रान्तिक बोलियों को स्थापित कर दिया जाय—जैसे मैथिली, भोजपुरी, और (मारवाड़ी) राजस्थानी को। हिन्दी-संसार में यों हिन्दी का "विकेन्द्रीकरण" किया जाय। इस प्रस्ताव से, हिन्दी-प्रेमी, तथा हिन्दी के जरिये से उत्तर-भारत के भाषागत और संस्कृतिगत ऐक्य के संरक्षण तथा परिपोषण के लिए सोचनेवाले लोग आशंकित हो गये हैं; पर प्रान्तिक सत्ता और प्रान्तिक भाषा, तथा उस भाषा को आश्रय करके अवस्थित प्रान्तिक या जनपद संस्कृति के सम्बन्ध में, जनपदों के लोग अब कुछ सचेत होते जाते हैं—इनमें इन सब वस्तुओं पर आत्मियता-बोध भी आ जाता है। विशेष सहानुभूति और अनुकम्पा के साथ हमें इस विषय का विचार करना होगा। इस विचार में चार बातों पर ध्यान देना चाहिए—

[१] व्याकरण ; [२] भाषाभिमान; [३] कठिनाई ; और [४] साहित्य।

यदि व्याकरण की दृष्टि से कोई प्रान्तिक बोली, पछाँही हिन्दी से बिलकुल पृथक् भाषा प्रमाणित हो, तभी उसके लिए हिन्दी से विकेन्द्रीकरण का प्रश्न उठ सकता है। फिर केवल व्याकरण काफी नहीं है; यदि उस बोली के बोलनेवालों में अपनी बोली के लिए अभिमान रहे, यदि ये लोग आपस में जोश के साथ अपनी बोली का ही व्यवहार करें, तो सोचने की बात है, इस बोली को हिन्दी से विकेन्द्रित या अलग कर पृथक् भाषा की मर्यादा दी जा सकती है या नहीं। भाषाभिमान-बोध की मात्रा पर यहाँ विकेन्द्रीकरण की संभावना विचारणीय है। परन्तु, प्रान्तिक बोली पर अभिमान के कारण हिन्दी से किसी बोली को छूट देना मुमकिन नहीं होगा। यह भी विचारणीय है कि प्रान्तिक बोली वालों को हिन्दी सीखने में कुछ कठिनाइयाँ होतीं हैं या नहीं, और इन कठिनाइयों की जाँच भी करनी है। यदि यह अनुभूत हो कि प्रान्तिक बोली को छोड़ने से शिक्षा और साहित्यिक प्रकाश में उन जनपद के लोगों का कोई नुकसान होता है, तब विकेन्द्रीकरण के पक्ष में अनुकूल मत दिया जा सकता है। फिर यह भी देखना है कि प्रान्तिक बोलियों में उपयोगी परिमाण का पुराना साहित्य है या नहीं। बिलकुल नये साहित्य की रचना करने की आकांक्षा लेकर, किसी साहित्यहीन अपरिणत बोली को अलग कर देना ठीक नहीं होगा। इन चार बातों पर गौर करते हुए हम देखते हैं कि केवल मैथिली के लिए पूरी तौर से हम अनुकूल मत दे सकते हैं, क्योंकि मैथिली में ये चारों बातें विद्यमान हैं। मगही के लिए [१] और [३] मिलते हैं, जहाँ तक मैंने देखा है [२] और [४] नहीं हैं। मगही बोलने वाले शिक्षित, चिंताशील, किसी नेता ने विकेन्द्रीकरण का सवाल नहीं पेश किया। कई वर्ष हुए, नवादा के श्रीयुत जयनाथ पति ने, मगही के लिए एक "मगही बर्द्धावन सभा" स्थापित करने की इच्छा प्रकट की थी। आप मगही में कुछ छोटे-छोटे उपन्यास भी लिख चुके हैं; पर मगही के लिए और किसी से किसी प्रयास की बात मैंने नहीं

सुनी। भोजपुरी में [१] [२] और [३] मिलते हैं ; पर [४] की कमी है। भोजपुरी वालों में अपनी बोली के लिए एक बड़ा भारी गौरव-बोध है, और भोजपुरी जनता बड़े चाव के साथ अपनी प्रान्तिक बोली में रचित गाने आदि गाती हैं ; श्री राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान् ने भी भोजपुरी में नये साहित्य-रचना की चेष्टा की है। पर व्यापक भाव से भोजपुरी के लिए विकेन्द्रीकरण का सवाल, अब तक दिखाई नहीं देता। पूर्वी हिन्दी बोलियों में [१], [२] और [४] हैं, पर अब तक [२] इतना प्रकट नहीं हुआ। पछाँह की हिन्दी की छाया में पूर्वी हिन्दीवाले अस्वस्थ नहीं हैं। बुन्देली, कनौजी और ब्रजभाषा से खड़ी-बोली की जो विभिन्नताएँ हैं, वे इतनी ज्यादा नहीं ; इनको पृथक् भाषा मानकर, यहाँ विकेन्द्रीकरण करना ठीक नहीं होगा ; यह अनुचित, और इस वक्त, असम्भव ही होगा। शुद्ध हिन्दी से उनका सम्बन्ध, चोली-दामन का-सा है। मध्य और पश्चिमी हिमाली बोलियाँ हिन्दी से, व्याकरण की दृष्टि से अलग हैं, पर इनमें [२], [३] और [४] का नितांत अभाव है ; इस पर इसमें कोई भी एक बोली सर्व-जन-स्वीकृत नहीं हो सकी, इसलिए हिन्दी का स्थान, स्वतः इनमें बन रहा है। राजस्थानी बोलियाँ आपस में काफी पार्थक्य रखती हैं ; सिवाय मारवाड़ी के, और किसी में लक्षणीय साहित्य नहीं बन सका, और सब राजस्थानी बोलियों को एकता-सूत्र से बाँधने के लिए, सर्वजन-मान्य साहित्यिक राजस्थानी बन न सकी। मारवाड़ी (डिंगल) साहित्य, मध्ययुग के भारतीय साहित्य का एक गौरव है, परन्तु मालवीय बोलने वाले, तथा जयपुरी बोलनेवाले, मारवाड़ी को प्रमुख या प्रतिभू-स्थानी राजस्थानी बोली के रूप में कहाँ तक मानेंगे, यह कहना कठिन है। "छै" और "है", "को की का" और "रो री रा" के पार्थक्य मुद्रित साहित्य में भी विद्यमान हैं। विकेन्द्रीकरण सिर्फ मार-वाड़ी के लिए सोचने की बात है। पर वैयाकरण विचार से यदि देखा जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि खड़ी बोली से ब्रजभाषा का पार्थक्य

जितना है, उससे कुछ विशेष अधिक पार्थक्य मारवाड़ी का नहीं है। अपनी मातृभाषा के अभिमान के कारण मारवाड़ी को अलग साहित्यिक-भाषा बनाने के लिए, कुछ मारवाड़ी बोलनेवालों में काफी आग्रह नजर आता है, यह सच बात है ; पर इसके विरोधी भी कुछ लोग हैं। साहित्यिक मर्यादा में मारवाड़ी एक श्रेष्ठ भाषा है, यह सत्य है। मारवाड़ी लोगों के लिए, हिन्दी सीखने में कठिनाई कितनी होती है, यह भी धैर्य के साथ विचारणीय है। मेरे विचार में, यदि मारवाड़ी-बोलनेवालों में अपने पुराने साहित्य की स्मृति जागृत होने के कारण, फिर साहित्य-सर्जना की ओर इसमें आग्रह दिखाई दे, तो वह सर्वथा उत्साह-योग्य है। पर हिन्दी को छोड़ना मारवाड़ियों के लिए ठीक नहीं होगा ; वह कठिन भी होगा। मारवाड़ी अगर फिर भी साहित्यिक भाषा बन जाय, तो राजस्थान में इसका स्थान, पंजाब में पंजाबी का जैसा है, वैसा ही रहेगा—कुछ वर्षों के लिए हिन्दी को मारवाड़ी के मुकाबिले में रखना मुनासिब होगा। पश्चिम पंजाब में अलग-अलग छोटी-छोटी बोलियाँ हैं, वहाँ कोई साहित्यिक भाषा नहीं बनी,—और न है जनता में अपनी प्रान्तिक बोली के लिए गर्वभाव। इस कारण, पश्चिम पंजाब में हिन्दुस्तानी (उर्दू) और पूर्वी पंजाबी साहित्यिक भाषा, इतनी आसानी से कायम हो गई है। पूरब पंजाब की साहित्यिक-भाषा पंजाबी ने, अब ज्यादातर सिक्खों के अपनी मातृभाषा से प्रेम के कारण और गुरुमुखी लिपि की स्वतन्त्रता के कारण, किसी सूरत से उर्दू और हिन्दी के सामने अपना निराला स्थान बना रखा है।

विकेन्द्रीकरण की नीति को यदि विचार के साथ चालू किया जाय, तो मेरे विचार में पंजाबी-सरीखी और तीन नई अप्रधान साहित्यिक भाषाओं की स्थापना हो सकती है—मैथिली, भोजपुरी, और राजस्थानी (मारवाड़ी)। इससे राष्ट्रभाषा हिन्दी की अन्तः प्रान्तिक स्थिति की विशेष हानि नहीं होगी। दक्षिण में मराठी से

घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कोंकणी बोलियों में एक को, गोया (गोवा) के भारतीय ईसाई लोगों ने रोमन-लिपि के सहारे एक खास साहित्यिक रूप दिया है, इसमें किताबें और पत्र-पत्रिकाएँ भी निकलती हैं। पर मराठी के साथी हुए बिना कोंकणा बोलियाँ चल नहीं सकतीं—कोंकणी का कोई सर्व-मान्य रूप नहीं है, इसलिए मराठी के अन्तर्गत रहना, इन बोलियों के लिए सहज तथा स्वाभाविक ही है। मगही, गढ़वाली, कुमाऊँनी आदि की भाषा-तात्त्विक चर्चा अवश्यम्भावी है। इस चर्चा का नतीजा क्या निकलेगा, इसका पता हमें इस समय नहीं है; ऐसा भी हो सकता है कि ऐसी चर्चा के साथ-ही-साथ इन प्रान्तिक बोलियों के लिए, स्वाभाविक ममता-बोध और इनके संरक्षण तथा संवर्धन की चेष्टा, आत्म-प्रकाश करेगी। पर यह दूर की बात है। "विकेन्द्रीकरण" ऐसा कोई भीतिप्रद या उपद्रव-मचाने-वाली वस्तु नहीं बनेगी।

बोली या भाषा से बढ़कर जीवन है। छोटी-छोटी बोलियों के दिन लद चुके। अब जिस रीति से मानव-प्रगति बढ़ रही है, उससे साबित होता है कि दुनिया में लगभग एक दर्जन बड़ी भाषाएँ ही कहीं टिकेंगी। घरेलू बोली जो हो सो हो, पर हर सभ्य मानव के लिए, किसी एक अन्तःप्रान्तिक या आन्तर्जातिक भाषा से परिचित हुए बिना, चल नहीं सकता। अंग्रेजी इस ज़माने की सबसे प्रभाव-शाली आन्तर्जातिक भाषा बनी है; विश्व-संस्कृति के लिए, यह एक अनोखी प्रकाश-भूमि हो गई है। हमारे लिए बाहर की हवा और रोशनी अंग्रेजी ही की खिड़की की राह से आती है। भारत में पूर्ण स्वराज्य या पूरा स्वाधीनता आ जाने के बाद भी, कम से-कम एक दो पीढ़ी तक अंग्रेजी की जरूरत हमें रहेगी।

हमारा अन्तःप्रान्तिक काम-काज सब राष्ट्रभाषा हिन्दी ही में हो सकता है। इस अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा हिन्दी की लिपि (जब तक रोमन न हो) केवल देवनागरी ही रहेगी, और पंजाब, उत्तर-प्रदेश,

सिन्ध आदि प्रान्तों के लोगों के सुभीते के लिए यह राष्ट्रभाषा ऐच्छिक रूप से उर्दू-लिपि में भी लिखी जा सकेगी। प्रादेशिक शिक्षा, प्रादेशिक काम-काज सब प्रान्तिक भाषाओं में होगा। विदेशी राष्ट्रों से भारत सरकार के नाम से पत्रादि विनिमय के लिए, आन्तर्जातिक भाषा फ्रांसीसी या अंग्रेजी के साथ, देवनागरी में लिखी हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही का उपयोग होगा। भारतीय सेना विभाग में, नौ-विभाग में, अंतःप्रान्तिक डाक और तार विभाग में, नागरी-हिन्दी ही चलेगी। मुसलमानों के लिए प्रान्त-विशेष में उर्दू-लिपि का इन्तजाम भी रहेगा। अब कुछ काल के लिए, उच्च-शिक्षा में अंग्रेजी को रखे बिना काम नहीं चलेगा। पर सब प्रदेशों में, उच्च कक्षाओं के छात्रों के लिए, राष्ट्रभाषा हिन्दी को अवश्य रखना पड़ेगा; और वज़न ठीक रखने के लिए, हिन्दी प्रान्त के छात्रों के लिए और किसी प्रधान भारतीय भाषा को छात्रों की इच्छा या सुभीते के मुताबिक अनिवार्य रखना ही होगा।

और दूसरे एक विषय पर ध्यान देने की जरूरत है। ज़बर्दस्ती किसी के ऊपर हिन्दी लादने की कोशिश न की जाय, विशेष करके अहिन्दी प्रांतों के लोगों पर, जिनकी अलग साहित्यिक-भाषा है। ऐसा करना ग़लत होगा; इसका फल अच्छा नहीं निकलेगा। तमिलनाडु में ऐसी आपत्तिजनक चेष्टा का नतीजा यह हुआ, कि बहुत-से तमिल लोग हिन्दी के विपक्षी हो गये हैं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, और बिहार की, मैथिली-मगही-भोजपुर-संथाली-भाषी जनताओं में, हिन्दी शिक्षा की भाषा बनाई गई है; अतः बिहार झाड़खंड प्रान्त के बंगाल से लगा संथाल-परगना मानभूम और सिंहभूम इन तीन जिलों के, हिन्दी के उस अञ्चल पर आने के पहले ही से बसे हुए बंगभाषियों को, बंगाल से छुड़ाकर स्कूलों में ज़बरदस्ती हिन्दी पढ़ाने का जो प्रयत्न, बिहार की कांग्रेस सरकार के कुछ कर्मचारियों ने किया है, उसका असर बंगाल पर पड़ा, और बंगालियों

के एक प्रभावशाली दल में (जिसमें स्वर्गवासी बाबू रामानन्द चाटुर्ज्या भी थे) हिन्दी पर विरोध-भाव आ गया। यह सर्वथा विचारणीय है कि शिक्षा में किसी प्रतिष्ठित मातृभाषा का स्थान सबके पहले है। राष्ट्रभाषा को चाहिए कि इन विषयों पर निष्पक्ष सामंजस्य करे, और अपनी मातृभाषा के पठन-पाठन के पूरे अधिकार के साथ, सब प्रान्तिक-भाषा बोलने वालों में हिन्दी के प्रति प्रीति बढ़े, ऐसा प्रयत्न करे।

जब तक हिन्दी का प्रचार अहिन्दी प्रान्तों में पूर्ण रूप से नहीं, और विभिन्न प्रदेश के राष्ट्रीय-सभा के सदस्य लोग तथा कांग्रेस के सदस्य जब तक हिन्दी अच्छी तरह से समझ और बोल न सकें, तब तक अंग्रेजी को राष्ट्रीय-जीवन में स्थान देना आवश्यक होगा। क्या करना उचित होगा, इसे हम अपनी अभिज्ञता के अनुसार आहिस्ते-आहिस्ते तय कर लेंगे। इस सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी करना यहाँ नहीं सम्भव है।

हिन्दी भाषा ज़ोरदार भाषा है, यह सचमुच मर्दानी ज़बान या पुरुष की बोली है। शुद्ध या ठेठ हिन्दी शब्दों के साथ-साथ संस्कृत के शब्द—इससे इसका शब्द-भंडार अनन्त बना है, इसमें और भी आये हैं—अरबी और फारसी के टकसाल के सिक्के। हिन्दी की अभिव्यञ्जना-शक्ति अपूर्व है। पर यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी का व्याकरण सहल नहीं है "का, के" वाला मामला, विशेष्य विशेषण और क्रिया में लिंग-भेद, तथाकथित कर्तृकारक में "ने" प्रत्यय का प्रयोग, क्रिया के अतीत काल में कर्तरि, कर्मणि और भावे—ये तीन प्रयोग—इन सब बातों से, शुद्ध हिन्दी दूसरे प्रान्तों के लोगों के लिए, खास करके पूरब और दखिन के लोगों के लिए, निहायत कठिन मालूम होती है। पछाँह से दूसरे प्रान्तों की जनता ने हिन्दी व्याकरण को ऐसा सरल बना दिया, कि इनमें प्रचलित चालू या बाजारी हिन्दी के व्याकरण के पूरे-पूरे सूत्र, एक पोस्ट-कार्ड

पर लिखे जा सकते हैं। "मैंने राजा देखा, मैंने रानी देखी, हमने राजा और रानी को देखा, मैंने हलवा खाया, मैंने कचौरियाँ खाई"– इन मुहावरों को बाहर के लोगों के लिए अपनाने में कठिनाई होती है। इसलिए जनता ने, जिसमें विभिन्न प्रान्तों के हिन्दी में अलब्ध-प्रवेश या हिन्दी को जिन्होंने अपनी नसों में नहीं भर लिया है, ऐसे लोग भी हैं—पछाँही बोली की इन सब स्वाभाविक विशिष्टताओं को त्याग कर, सरल व्याकरण तथा नई शैली की चालू हिन्दी बना ली है; ऐसी चालू हिन्दी में ऊपर दिये हुए वाक्यों के रूप यों बदल जायँगे—"हम राजा को देखा, हम रानी को देखा, हमलोग राजा और रानी दोनों को देखा, हम हलवा खाया, हम तीन कचौरी खाया।" कलकत्ते में, बम्बई में, पेशावर में, पटने में, नागपुर में, कराँची में, जो हिन्दी सड़कों पर घूमते-फिरते आम लोगों के मुँह से सुनाई देती है, उसका व्याकरण ऐसे ही संक्षिप्त और सहज बनाया गया है। राष्ट्रभाषा या समग्र भारत की मामूली जनता में प्रचलित सरल हिन्दी या लघु हिन्दी के प्रयोगों के मुताबिक, इसका व्याकरण यदि सरल कर दिया जाय, तो यह ज्यादातर "आम-फ़हम" और आमपसंद होगी। इस विषय पर सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में मैंने एक प्रस्ताव लेख के आधार पर पेश किया था। निखिल भारत के अहिन्दी प्रान्तों से, तथा शुद्ध हिन्दी के अपने प्रान्त पछाँह से, भाषातत्त्व से परिचित कुछ प्रतिनिधियों को लेकर, इस विषय पर आलोचना करने और अपनी राय देने के लिए एक समिति यदि नियत की जाय, तो कुछ लाभ हो सकता है।

इस खंड, छिन्न तथा विक्षिप्त भारत के लिए, हिन्दी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संयोग-सूत्र है। काली घटा के अंतराल में, घने अँधेरे में मार्ग दिखानेवाली यह एक बिजली की रेखा है। विभिन्नता रहते हुए भी, समग्र भारत जड़ से एक और अखंड है; भाषा और संस्कृति के क्षेत्रों में इस सत्य का प्रतीक हिन्दी ही है। "संगच्छध्वं संवदध्वम्"—

आधुनिक भारत के जीवन में इस मंत्र को सार्थक करने का साधन हिन्दी ही है। समग्र भूमंडल की तीसरी भाषा; चालीस करोड़ मानवों की—विश्व की मानव-संतान के पंचमांश की—होनहार राष्ट्रभाषा; ऋषि-प्रोक्त और निषाद-द्राविड़-किरात-आर्यों की मिलित चेष्टा के फल-स्वरूप हमारी प्राचीन संस्कृति-वाहिनी संस्कृत भाषा से संग्रथित, आधुनिक भारत की प्रतिभू हमारी हिन्दी भाषा; जिसके गले में अरब और ईरान के शब्द-भंडारों से लिए हुए मणि-हार हमने पहनाया है, और जिसकी शक्ति और सौन्दर्य को हमने बढ़ाया है; ऐसी भाषा पर हम क्यों न गर्व करें, और इस अनमोल देन के लिए क्यों न हम ईश्वर की स्तुति करें? मैं बङ्गाल से आया हूँ, पर मेरे लिए यह एक खास आनन्द की बात है कि बङ्गाल ने, जो सदा से निखिल भारत —अखंड भारत—ही के सपने में मगन रहा है, आधुनिक भारत के विशाल जीवन में हिन्दी के महत्त्व को इस नवीन युग में हमारी राष्ट्रीय जागृति के साथ-ही-साथ उपलब्ध कर लिया था, और विगत ईसवी शती के प्रारम्भ से कुछ प्रमुख बङ्गाली साहित्यिक तथा दूसरे चिन्तानेता हिन्दी-प्रतिष्ठा और प्रचार में दत्तचित्त हुए थे। कलकत्ते के फोर्ट-विलियम कालेज के अंग्रेज विद्वान् अध्यक्ष जान गिलक्राइस्ट की सहायता से, हिन्दी गद्यशैली की नई स्थापना कलकत्ते ही में हुई थी; पंडित लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की कृति के बारे में कुछ कहना फिजूल है। ईसवी उन्नीसवीं शती के बीच तक, मुसलमानों में भी उर्दू की प्रतिष्ठा अधिकतया नहीं हुई थी; सन् १८२२ के मार्च के अन्त में कुछ अंग्रेजों की चेष्टा से कलकत्ते में सबसे पहले उर्दू साप्ताहिक संवाद-पत्र "जाम-ए-जहाँनुमा" का प्रकाशन होने लगा; केवल उर्दू का अखबार—इसके ग्राहकों के लिए रोचक न होने के कारण सात संख्याओं के बाद अष्टम संख्या से यह पत्र उर्दू और फारसी दोनों भाषाओं में प्रकाशित होने लगा, फिर थोड़े दिन के बाद उर्दू अंश का वर्जन हुआ, यह अखबार सन् १८४५ तक केवल फारसी

का ही रहा। उत्तर भारत में उस समय शिक्षित जनों के लिए, मुगल-युग की राजभाषा फारसी समधिक प्रचलित थी, इस वास्ते नवीन भारत के स्रष्टा राजा राममोहन राय, ईसवी १८२२ के अप्रैल से "मीरातु-ल्-अखबार" नाम का एक फारसी संवाद-पत्र निकालने लगे, वह उन्हीं की सम्पादना से बरस भर चला, फिर नये प्रेस आईन के प्रतिवाद से राजा ने उसे बन्द कर दिया। सबसे पुराना हिन्दी-संवाद पत्र "उदन्त मार्तण्ड" कानपुर-निवासी युगलकिशोर सुकुल के द्वारा कलकत्ते से निकलने लगा, मगर १८२७ को, नौ महीने के बाद, यह पत्र बन्द हो गया। उस जमाने में बङ्गाल से ६ फारसी संवाद-पत्र निकलते थे, उनमें केवल एक में उर्दू का कुछ अंश रहता था; उर्दू अखबार का चाव भी नहीं था।

कुछ बङ्गाली हिन्दी लेखक प्रकट हुए हैं। बङ्गालियों के लिए हिन्दी सीखना कुछ नई बात नहीं थी। तुर्क लोगों के आने के पहले ही से हिन्दी का पूर्व-रूप शौरसेनी अपभ्रंश बङ्गाल में भी चालू था, वहाँ के प्राचीन बौद्ध तथा ब्राह्मण-धर्मी कवि-लोग, न केवल अपनी मातृभाषा पुरानी बङ्गला में, पर शौरसेनी या पछाँही अपभ्रंश में भी कविता करते थे। ईसवी सोलहवीं तथा सतरहवीं शती में हिन्दी-साहित्य का विशेष प्रभाव, बङ्गला साहित्य पर पड़ा; बङ्गाल के कुछ मुसलमान कवियों ने, हिन्दी के कई नामी ग्रंथों का बङ्गला अनुवाद किया, जिनमें चटगाँव के कवि आलाओल द्वारा कृत मलिक मुहम्मद जायसी की "पद्मावत" का अनुवाद लक्षणीय है; सतरहवीं शती में हिन्दी "भक्तमाल" का भी बङ्गला अनुवाद हो गया। अठारहवीं शती के सर्वश्रेष्ठ बङ्गाली कवि भारतचन्द्र राय गुणाकर, फारसी, संस्कृत और हिन्दी अच्छी तरह से जानते थे, और इन्होंने कुछ हिन्दी कविताएँ भी लिखी थीं, जो इनकी रचनाओं के संग्रह में मिलती हैं। अंग्रेज अमलदारी के बाद, बङ्गालियों में हिन्दी की चर्चा की कमी नहीं हुई। ताराचन्द मित्र ने हिन्दी "बेतालपचीसी" का संशोधित

संस्करण १८०५ सन् में कलकत्ते से निकाला था। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हिन्दी के अच्छे विद्वान थे, नव-स्थापित कलकत्ता विश्व-विद्यालय में हिन्दी के परीक्षक भी होते थे। "बेताल पचीसी" का बङ्गला अनुवाद जो इन्होंने किया था, अब बङ्गला गद्य का एक श्रेष्ठ निदर्शन समझा जाता है। उस समय भारत के राष्ट्रीय जीवन में हिन्दी के स्थान के विषय पर बंगला के नेता लोग विचार करने लगे, आज से कोई सत्तर साल पहले। ईसवी १८७५ में केशवचन्द्र सेन ने अपने बङ्गला संवाद-पत्र "सुलभ समाचार" में इस विषय पर लिखा था—

"यदि भाषा एक ना हइले भारतवर्षे एकता ना हय, तबे ताहार उपाय कि? समस्त भारतवर्षे एका भाषा व्यवहार करा-इ उपाय। एखन जतोगुलि भाषा भारते प्रचलित आछे, ताहार मध्ये हिन्दी भाषा प्राय सर्वत्र प्रचलित। एइ हिन्दी भाषा के यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय, तबे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हइते पारे। किन्तु राजार साहाय्य ना पाइले, कखनोइ सम्पन्न हइबे ना। एखन इङ्गरेजजाति आमादेर राजा। ताँहारा जे ए प्रस्तावे सम्मत हइबेन, ताहा विश्वास करा जाय ना। भारतवासीदेर मध्ये अनैक्य थाकिबे ना, ताहारा परस्पर एक-हृदय हइबे, इहा मने करिया हय तो इङ्गरेजेर मने भय हइये। ताँहारा मने करिया थाकेन जे, भारतवासीदेर मध्ये अनैक्य ना थाकिले, ब्रिटिश साम्राज्य स्थिर थाकिबे ना।.........भारतवर्षेर मध्ये जे-सकल बड़ो-बड़ो राजा आछेन, ताँहारा मनोयोग करिले, ए कार्यटी आरम्भ करिते पारेन।.........जेमन एक भाषा करिते चेष्टा करा कर्त्तव्य, तेमनि उच्चारणके-ओ एकरूप करिते चेष्टा करा कर्त्तव्य। ....भाषा एक ना हइले, एकता हइते पारे ना।"

इससे मालूम होता है कि भारत के राष्ट्रीय ऐक्य के लिए केवल हिन्दी के द्वारा ही भाषासाम्य संभव था, ऐसा विचार उनका था; उनके मन में ऐसी आशंका भरी हुई थी, कि अंग्रेज लोग इसे होने नहीं देंगे—आज कार्यतः हम जैसे देखते हैं। इस काम के लिए

भारत के राजा-महाराजाओं की सहायता की जरूरत थी। अभी तक यह जरूरत है। शिक्षाव्रती भूदेव मुखुर्ज्या ने कोई पचास साल पहले लिखा था—

"भारतवासीर चलित भाषागुलिर मध्ये हिन्दी-हिन्दुस्तानी-ई प्रधान, एवं मुसलमान-दिगेर कल्याणे उहा समस्त-महादेश-व्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारे जे, उहाके अवलम्बन करिया-इ, कोनो दूरवर्ती भविष्य काले, समस्त भारतवर्षेर भाषा सम्मिलित थाकिबे।"

स्वयं बंकिमचन्द्र चाटुर्ज्या हिन्दी के पक्ष में थे, इस का मुद्रित प्रमाण है।

जब १९०५ साल के बाद बङ्गाल में बङ्ग-भङ्ग अन्दोलन शुरू हुआ, और विदेशी द्रव्यों के बहिष्कार तथा स्वदेशी द्रव्यों के व्यवहार की नीति इस आन्दोलन के फलस्वरूप समस्त भारत में गृहीत हुई, तब स्व० कालीप्रसन्न काव्यविशारद आदि बङ्गाल के कुछ नेताओं ने निहायत सहजभाव से भारत के राष्ट्रीय जीवन में हिन्दी को मान लिया था।

रवीन्द्रनाथ स्वयं हिन्दी-प्रेमी थे। इन्होंने कबीर के सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद किया था, इससे मध्य-युग के हिन्दी-साहित्य के एक श्रेष्ठ अनुभवी कवि की रचना से तमाम सभ्य जगत् को परिचय मिला। गुजरात में भ्रमण करने के समय रवीन्द्रनाथ हिन्दी ही में भाषण दिया करते थे।

इस प्रकार हिन्दी को और भी बढ़ाया अहिन्दी प्रान्त के प्रमुख चिंता-नेताओं ने। यह हर्ष की बात थी कि ऐसे अन्तर्वेद तथा संयुक्त-प्रदेश, मध्य भारत और बिहार प्रान्तों के अर्थात् खास "हिन्दी संसार" के बाहर के लोगों ने हिन्दी का समादर किया। महर्षि दयानन्द स्वयं गुजरात प्रान्त के थे; पंजाब तथा उत्तर भारत के हिन्दुओं में सांस्कृतिक-जागृति और साथ-ही-साथ हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए

उन्होंने जो कुछ किया था, वह भी आधुनिक युग के भारत के इतिहास का विषयीभूत हो गया है। गुजरात के और एक सुपुत्र भारत के युगनेता तथा युगावतार महात्मा गांधी ने अपनी दिव्य दृष्टि से दक्षिणी अफ्रीका में रहते समय से हिन्दी के महात्म्य को उपलब्ध कर लिया था, और भारतीय जीवन में हिन्दी का योग्य स्थान बनाने के लिए इनका काम सब से कार्यकर और व्यापक हुआ। यह हमारे लिए खेद की बात है कि इस वक्त उनकी दृष्टि भाषा-विषयक दूसरे आदर्श पर पड़ी है; परन्तु हमारा विश्वास है कि जिस अमर तरु को इतने वर्षों तक उन्होंने अपने ध्यान और कर्म के पानी से सींचकर बढ़ाया, वह मरने का नहीं—राष्ट्रीय भाव से भरी हुई संस्कृत के अक्षय शब्द-भण्डार की उत्तराधिकारी, इसलामी तथा आधुनिक संस्कृतियों के उपयोगी विदेशी शब्दों से शक्तिशाली हिन्दी भाषा, भारत के तिरंगे झंडे के साथ अपना सिर ऊँचा किये रहेगी।

विक्रम संवत् २०००

महाकाल-स्वरूप, रुद्र और सुन्दर, भैरव और मंगल जिस नटराज शिव के नृत्य-छन्द से ग्रह-नक्षत्रों की सृष्टि, स्थिति और ध्वंस होते हैं, ब्रह्मा और इन्द्रों का आना-जाना होता है, संसार की जातियों के उत्थान और पतन होते हैं, उसी की कृपा से हमारी हिन्दू-जाति अपने एक गौरवमय युग के दो हजार बर्ष बिताकर अब एक नई सहस्राब्दी के प्रारम्भ में आ खड़ी हुई है। हमारी सबसे पुरानी वर्ष-गणना तो कल्यब्द है, जिसका हिसाब ईसू खीस्त के पूर्व ३२०१ बरस से गिना जाता है। अब तो कल्यब्द ५०४४ चालू है। परन्तु इस कल्यब्द के बारे में ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि यह अब्द उसी समय से अर्थात् अर्जुन के पौत्र और अभिमन्यु के पुत्र राजा परीक्षित् के राज्य-काल से चला आ रहा है, या पिछले समय में ज्योतिषिक पण्डितों ने इस अब्द को बना लिया और व्यवहार में ले आए। हमारी भारतीय संस्कृति की प्राचीनता के विषय में हमारे पूर्वजों ने पुराणों में बड़े ही जोश के साथ अपनी राय या अपने विचार प्रकट किये हैं, जिसमें हजारों और लाखों की गिनती कुछ ऐसी बड़ी बात नहीं है। यहाँ तक कि हमारे कुछ विद्वानों ने आधुनिक काल के प्रकाशित कतिपय संस्कृत और हिन्दी ग्रन्थों में एक "सृष्ट्यब्द" का भी प्रयोग किया है। इस विचार के अनुसार, अब विक्रम संवत् २००० और ईसवी सन् १९४३ में विश्व-सृष्टि से १, ९७, २९, ४९,०४३ बरस बीत गए हैं। ऐसी गणना में ईसवी सन्, ईसा पूर्व या कल्यब्द का भी कोई स्थान नहीं। इस सृष्ट्यब्द के सामने और सब अब्द समुद्र के सामने गोष्पद-जैसे हैं। ईसाई लोग एक सृष्ट्यब्द को मानते हैं, जो ईसू खिस्त के पहले के ४००४ बरस से गिना जाता है; अब इस अब्द

की गणना सिर्फ ५६४७ है। यहूदी लोग और एक सृष्ट्याब्द मानते हैं—इस वक्त उसका ३५७० वाँ साल चल रहा है। मगर ये सब सृष्टि-अब्द मनचाही चीजें हैं। इनमें ऐतिहासिक सचाई का कोई प्रमाण नहीं। कल्यब्द के बाद एक प्राचीन भारतीय अब्द अब बौद्ध धर्म के देशों में—खासकर सिंहल, ब्रह्म, स्याम और कम्बोज में—चालू है, जो बुद्ध भगवान् के जन्म से गिना जाता है और जो अब २४८७ वें बरस में है। यह भारतवर्ष की, शायद पृथ्वी की, सबसे पुरानी ऐतिहासिक वर्ष-गणना है। उस जमाने के यवन या ग्रीक लोग ऑलम्पिया में देवराज Zeus Pater जेउस पातेर वा द्यौष्पिता के चौबरसिया त्योहार के प्रारम्भ काल (ईसू खीस्त के जन्म से ७७६ साल पूर्व) से जो Olympiad या ऑलम्पिया-अब्द मानते थे वह, और रामक या रूमी लोग रोम शहर की प्रतिष्ठा (७५३ ई० पू०) के काल से जो अब्द मानते थे—ये दोनों अब चालू नहीं हैं। ईसाई तारीख ने इन दोनों को मिटा दिया है। बुद्धाब्द के बाद यह विक्रम संवत् स्थापित हुआ था, जो ईसू खिस्त के ५८ अथवा ५७ बरस पूर्व से चालू हुआ और अब तक चला जा रहा है।

विक्रम संवत् के उद्भव और इसके प्राचीन नामों के विषय में ऐतिहासिक पण्डितों ने बहुत-कुछ खोज की है। ऐसी ऐतिहासिक खोज से हमारे बहुत-से प्रचलित सिद्धान्तों, मतवादों या विश्वासों का, जिन्हें जनता मानती है और जो पुराने ढंग के विद्वानों के लिए स्वयंसिद्ध या सत्य हैं, बहुशः संशोधन होता है, और कभी-कभी संशोधन के कारण वे प्रचलित विश्वास, मतवाद या सिद्धान्त भित्तिहीन अथवा गलत या अशुद्ध भी प्रमाणित हो जाते हैं। वैज्ञानिक अर्थात् ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से भी ऐसी ऐतिहासिक खोज पर ऐसे संशोधन की जरूरत माननी होगी। आध्यात्मिक विचार से भी इसकी उपयोगिता है, क्योंकि 'नास्तिसत्यात् परो धर्मः'—सत्य से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है। अतः इस सत्य का निर्णय और

निर्णीत सत्य की प्रतिष्ठा होनी ही चाहिए। पर नया सत्य जब तक प्रतिष्ठित न हो, तब तक संशोधन का मार्ग, तत्त्वज्ञ के सिवा साधारण मनुष्य के लिए विभ्रमकारी होता है ; जब तक प्रमाणित सत्य में हम लोग नहीं पहुँच सकते, तब तक प्रचलित मतवाद जनता के लिए काफी होता है। विक्रम संवत् के, जिसकी तीसरी सहस्राब्दी का सूत्रपात आज होता है, प्रतिष्ठाता के रूप म मालवराज विक्रमादित्य को हम जानते हैं, जिनकी उज्जयिनी नगरी राजधानी थी और जिनकी नवरत्न सभा में महाकवि कालिदास विराजते थे। आधुनिक इतिहास इस विक्रमादित्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट कर रहा है। इतिहास की राय यह है कि विक्रम संवत् की अब्द-गणना किसी राजा ने प्रतिष्ठित नहीं की थी ; बल्कि यह मालव-जाति के गणतन्त्र की नई स्थापना के स्मारक-स्वरूप मालव प्रजागण द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी, इसलिए इसका एक प्राचीन नाम था "मालवगण-स्थिति" महाराज विक्रमादित्य नाम से इसका सम्बन्ध लगाया गया था, लगभग ईसवी आठवीं शती में। इस "मालवगण-स्थिति" का एक और नाम भी प्राचीन लेखों से मिलता है—"कृत", "क्रित" या "क्रीत"। इन तीनों रूपों में इस शब्द के अर्थ का ठीक पता नहीं चलता ; पर एक विद्वान् का अभिप्राय यह है कि इन तीनों का मूल रूप "क्रीत" ही है, जिसका मतलब है—"खरीदा हुआ।" इससे एक ऐसे शक-पार्थव राजवंश क भारत के किसी अंश पर राज करने का काल सूचित होता है, जिस राजवंश के कुछ राजा पहले-पहल अपने पूर्वगामी राजाओं क खरीदे हुए गुलाम थे, जैसे देहली के तुर्की राज्य के कुछ बादशाह "गुलाम राजा" कहलाते हैं। कहाँ भारत की कल्पना की ख्याति से उज्ज्वल महामहिम महाराज विक्रमादित्य की प्रयोजना से विक्रम संवत् की प्रतिष्ठा, और कहाँ विदेशी शकपार्थव "क्रीत" या खरीदशुदा गुलाम बादशाहों के नाम से इसका संयोजन! परन्तु इस विचार में बुद्धि की दृष्टि से हमें पक्षपातशून्य रहना चाहिए।

"क्रीत" शब्द की जो व्याख्या दी गई है, वह असम्भव नहीं है; पर प्रमाणित नहीं। "मालवगण-स्थिति" नाम के अनुसार, संवत् अब्द राजपूताने में मालव गणतन्त्र की नई प्रतिष्ठा का अब्द है, यह व्याख्या मानने लायक है। प्राचीन भारत के गणतन्त्र के इतिहास और उसकी प्रकृति के विषय में स्व० काशीप्रसादजी जायसवाल ने काफी प्रकाश डाला है। उन्होंने विक्रम संवत् की उत्पत्ति के विषय में अपनी विख्यात पुस्तक "हिन्दू पालिटी" के प्रथम खण्ड के पृष्ठ १५२-१५३ में जो लिखा है, वह इस बात पर आखरी सिद्धान्त माना जा सकता है। मालव-जाति ईसू खिस्त के पूर्व चौथी शती में यवन या ग्रीक सम्राट् अलेक्सन्दर के साथ लड़ी थी। यह पंजाब की एक प्राचीन आर्य जाति थी, जिसके जीवन में स्वाधीनता का बड़ा स्थान था। इसकी शूरता, देशभक्ति और स्वाधीनता-प्रियता के काफी उदाहरण यवन लेखकों के ग्रन्थों में मिलते हैं। अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए, यवन, शक-पार्थव आदि विदेशी जातियों की सेनाओं से अपने को बचाने के लिए, मालव-जाति के लोग, उसी प्रकार की और कई जातियों के लोगों के साथ, ईसा के पहले की द्वितीय शती में पंजाब से राजस्थान में आकर उपनिविष्ट हुए थे। इनका एक प्रबल शत्रु था पार्थव राजा नहपाण। खीस्त-पूर्व ५८ सन् में आन्ध्रराज गोमतीपुत्र ने नहपाण को लड़ाई में हरा दिया और जान से मार डाला। यह घटना मालवों के लिए जीवन-रक्षा-कारक हुई, इसलिए मालव-जाति ने भविष्य काल के ज्ञापन के लिए ईसा पूर्व ५८-५७ वर्ष से "मालवगण-स्थिति" नाम से संवत् अब्द का स्थापन किया था। अपनी जाति के लिए "कृत" या एक नया सत्य-युग आनेवाला है, इस ख्याल से "मालवगण-स्थिति" को "कृत" भी कहते थे। फिर मालव-जाति का फैलाव राजस्थान में बहुत हुआ। इसके नाम पर मालव देश ने भी एक नए नाम को प्राप्त कर लिया। यह अब्द-गणना मालव-जाति के विक्रम या पराक्रम का भी साक्ष्य

देती है, इसलिए इसका नाम "विक्रम" संवत् रखा गया ; दरअसल यह विक्रमादित्य नाम के किसी राजा के नाम से नहीं हुआ, पूरी जाति के लोगों के विक्रम या शूरता का प्रकाशक है।

ऐतिहासिक खोज से जो-कुछ निकले, सो निकले ; पर यह बात तो अविसंवादित है कि आज से दो हजार बरस पूर्व से यह अब्द हिन्दू-जाति के इतिहास को प्रकाशित करता आया है। ईसा के बाद ७८ बरस बीत जाने से कुषाण या शक-वंशीय राजाओं ने एक नया अब्द कायम किया, जो "शकाब्द" नाम से आजकल हिन्दू-संसार में चालू है और जो भारत के बाहर इन्दोनेसिया या द्वीपमय-भारत में (यवद्वीप आदि में) और इन्दो-चीन में भी फैल गया ; पर विक्रम संवत् का-सा गौरव इसका नहीं। बाद में गुप्त राजाओं ने "गुप्ताब्द" चलाया, और कुछ नए अब्द भी बनाए गए ; मगर इनमें कोई भी विक्रम संवत् के तुल्य नहीं। किसी गौरवमय घटना की स्मृति, किसी आशापूर्ण अवस्था की याद लेकर विक्रम संवत् जरूर ही उदित हुआ था, जिसका कुछ-कुछ पता जायसवाल जैसे ऐतिहासिकों ने लगाया।

मालवगणों की स्थिति के बाद बना हुआ नया कृतयुग गुप्त अमलदारी के पश्चात् "महाराज विक्रमादित्य" के नाम से मिल गया। यह महाराज विक्रमादित्य कौन थे ? ऐतिहासिकों की राय है कि यह विक्रमादित्य सचमुच गुप्त-वंश के सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त थे, जिनका विरुद या उपनाम भी था विक्रमादित्य। इन्होंने ईसवी सन् लगभग ३८० से ४१४ तक राज किया था, और भारत के विदेशी शत्रु हूणों से लड़ाई की थी। ये प्रजारञ्जक राजा थे, और विचार यह है कि इन्हीं के राज्यकाल में महाकवि कालिदास प्रकट हुए थे। इनके उपनाम के कारण "मालवगण स्थिति" का कृत या विक्रम अब्द, महाराज विक्रमादित्य का अब्द बन गया ; और इस संयोग का नतीजा यह हुआ कि ईसा के पूर्व प्रथम शती में यह विक्रमादित्य स्वयं लाये गए।

किसी देश की जनता इतिहास के सन् और तारीख की परवाह नहीं करती, राजाओं की परम्परा नहीं मानती। इतिहास में जो कुछ चित्तानन्दकर मिलता है, उसी का स्मरण जनता के मन में अपना प्रभाव डाल देता है। चित्त-विक्षोभकारक बात भी जनता जल्द ही भूल जाती है। दुःख की स्मृति कभी-कभी रह जाती है; पर उतनी नहीं, जितनी सुख की। भारतीय जनगणों ने अपने राजादर्श से उज्जयिनी-पति नवरत्न-सभाधीश महाराज विक्रमादित्य के व्यक्तित्व को मूर्तिमान कर दिया है। यह भारतीय जन के चित्त में अब तक विराजमान है। वास्तव में यह कल्पना अधिक मनोमुग्धकर हो गई है। 'विक्रम संवत् के राजा विक्रम'—इस बात से हिन्दू-जनता के समक्ष जिस प्रजारंजक, गुणिजन-पोषक, न्यायधर्मी, शूरवीर, देशरक्षक राजा का आदर्श उदित होता है, मानो राजा श्रीरामचन्द्र को छोड़कर और कहीं राजधर्म का इतना उच्च आदर्श नहीं मिलता। प्राचीन भारतीय संस्कृति का मानो एक सम्पुट बनकर यह नाम और इस नाम का अब्द हमारे सामने विद्यमान है। अगर शब्दों में कहें, तो इतना ही कहना काफी होगा कि "विक्रम-संवत्" में हिन्दू इतिहास विजड़ित है और हिन्दू-आदर्श इस नाम में छिपा हुआ है।

प्राचीनकाल में बहुत-सी जातियाँ प्रकट हुई थीं, और विश्व-मानव अर्थात् समग्र मानव-जाति के लिए अपने-अपने उपहार, समग्र मानव-सभ्यता की पुष्टि के लिए अपने-अपने दान लाकर अतीत के गर्भ में विलीन हो गई हैं। मिसरी, ईजीयन, खलदेया, असुर, यवन, रोमक—ये सब जातियाँ चली गईं। तीन प्राचीन जातियों के साहित्य में मानव-चिन्तन और सौन्दर्य-सर्जन की श्रेष्ठ वस्तुएँ मिलती हैं। परमार्थ-लाभ करने के लिए सब से मौलिक और गम्भीर भाव-संभार सिर्फ इन तीन प्राचीन जातियों ने दिए हैं। ये तीन जातियाँ हैं—हिन्दू या प्राचीन भारतीय, यवन या प्राचीन ग्रीक, और चीनी। इनमें यवनों का नाम-निशान अब मिट गया है; पर भारतीय अर्थात् हिन्दू

और चीनी—ये दो जातियाँ अब तक जीती-जागती हैं। प्राचीन-युग के सब प्रौढ़ और सुकृतिवान् जनगणों में केवल दो ही आज तक मरे नहीं हैं, जीते हैं—हिन्दू और चीनी। इसका कारण यह है कि इन जनगणों के लोग पूरी तौर से अपने प्राचीन धर्म और अपनी प्राचीन संस्कृति से छूटे नहीं हैं। अपने धर्म और अपनी जीवन-रीति की रक्षा करते हुए, प्राचीनों से पूर्वजों के पुण्य अवदान से, इन्होंने अपनों को अलग नहीं कर दिया है। प्राचीन के क्रमशः परिवर्त्तन में ही जीवन है। प्राचीन से संयोग-सूत्र छिन्न होने से जीवन में—खासकर मानसिक और आत्मिक जीवन में—भी हानि पहुँचती है। प्राचीन के ऊपर आधुनिक की प्रतिष्ठा को जब हम सहज भाव से मान लेते हैं, तब हमारी संघ-शक्ति बढ़ती है, अपने को दिवालिया और पर-प्रसाद-पुष्ट सोचने का अवकाश हमें नहीं मिलता, और इससे हम आत्मिक दैन्य से बच जाते हैं। बहुत-सी जातियों में हम ऐसा ही देखते हैं। कम-से-कम दो हजार साल की स्मृति और संयोग इस विक्रमाब्द से हमारे सामने मूर्त्तिमान है। इस कारण इस अब्द का अस्तित्व हमारे जातीय जीवन में शक्ति लाने वाला है।

इन दो हजार वर्षों में कितना-कुछ हुआ! पृथिवी का इतिहास इन दो हजार वर्षों में कई बार उलट गया। रोम का साम्राज्य-विस्तार आखिर रोम का पतन; यूरोप में प्राचीन धर्म का विलोप और ईसाई धर्म का उसके स्थान में आकर उसे ले लेना; इधर इसलाम का उद्भव होना और फैलना, इराक और हिस्पान (स्पेन) में इसलामी सभ्यता का विकास, मङ्गोल और ईसाइयों के हाथ उसका विनाश; भारत में बौद्ध और ब्राह्मण्य धर्मों के साथ सभ्यता का फैलाव, Indonesia या द्वीपमय भारत, Indo China या इन्दो-चीन और Serindia चीन-भारत में एक "बृहत्तर भारत" का स्थापन; भारत में दार्शनिक और वैज्ञानिक तथा कला-विषयक और साहित्यिक उन्नति की पराकाष्ठा; भारत पर शक हूणों का आक्रमण, उनका उपनिवेश;

आखिर तुर्कों द्वारा भारतीय संस्कृति पर किया हुआ भयंकर आक्रमण और भारत के मुसलमान-युग का आरम्भ, मुसलमान राज्य का प्रसार, मुगल सम्राट्गण के समय भारतीय सभ्यता के इसलामीय रूप की प्रतिष्ठा ; फिर पुर्तगाली, फ्रांसीसी, अंग्रेज आदि यूरोपीय जातियों के लोगों का आगमन ; मध्य युग के सिद्ध, भक्त और सन्तों द्वारा भारतीय ईश्वर-बोध का नया फैलाव; उधर यूरोप में गण महाराज का अभ्युदय—फ्रांसीसी क्रांति, इंग्लैण्ड के भारत-अधिकार के फल-स्वरूप उसके साम्राज्य की दृढ़ प्रतिष्ठा और व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति; जर्मनी का उदय, इंग्लैण्ड और जर्मनी में शत्रुता, विगत महा युद्ध ; और रूस की क्रांति, जिससे समग्र दुनिया के प्राचीन रीति-रस्म, औरों को दबाकर जो अर्थनीति और राष्ट्रनीति आज प्रबल हैं, उनके साथ-ही-साथ जो रीति-रस्म कायम हैं, वे दूर हो जानेवाले हैं और सबसे बढ़कर हैं। विभिन्न प्रकार के स्वार्थों और आदर्शों के संघर्ष से पैदा इस समय का महासमर। न-जाने इसका नतीजा क्या होगा, कहाँ तक जातिगत स्वार्थ-बोध और दुर्बलों पर अत्याचार पृथिवी से मिट जायँगे। हम भारतीयों के लिए विक्रम संवत् की यह नवीन सहस्राब्दी क्या लायगी, इसका भी पता नहीं है।

मनुष्य के जीवन में सालगिरह या वर्षगाँठ का दिन स्मरणीय होता है। ऐसे दिन में मनुष्य विचारकर देख सकता है कि मानसिक, आध्यात्मिक, तथा भौतिक जीवन में नफा-नुकसान क्या हुआ, आशा-आकांक्षा कहाँ तक पूरी हुई और चिन्ता-आशंकाएँ कहाँ तक दूर हुईं। मनुष्य नव वर्ष के लिए नए संकल्प करता है, और नवीन आशा तथा उत्साह से काम में लग जाता है। जाति के जीवन में एक-एक शती एक-एक वर्षगाँठ-सी होती है। सहस्राब्दी खत्म हुई, मानों जाति के जीवन के दस साल बीत गए। यूरोप में ईसाई लोग सोचते थे कि जब ईसाई अब्द के हजार साल पूरे हो जायँगे, तब पृथिवी में प्रलय होगा, स्वर्ग से अपने फरिश्तों को साथ लाकर ईसू

खिस्त फिर नया अवतार लेंगे ; रोज-ए-कयामत जाहिर होगा और स्वर्ग-राज्य की नीवँ डाली जायगी। लोग बड़ी आशंका में थे कि दुनिया का क्या होगा ? बहुत-से लोग जोश के साथ धर्म-कर्म करने लगे। पर ईसवी अब्द १००० बीत गया, दुनिया पूर्ववत् ज्यों की त्यों चलती रही। जाति के जीवन में उस जाति में व्यवहृत अब्द के शतक या सहस्रक खत्म होने के समय कुछ आशंका, कुछ आशा का आना स्वाभाविक है। शती या सहस्राब्दी खत्म हो जाने का समय क्रान्ति लाता है, ऐसा विचार भी स्वाभाविक है। मुगल सम्राट् भारत-तिलक अकबर बादशाह के राज-काल में इसलामी अब्द हिजरी के पहले सहस्र वत्सर पूरे हुए। इस घटना के स्मारक-स्वरूप अकबर ने "तारीखे अल्फी" अर्थात् "सहस्रक का इतिहास" नामक एक इतिहास-ग्रन्थ फारसी में लिखवाया था, जिसमें नबी मुहम्मद के समय से अकबर के समय तक इसलामी दुनिया का एक ऐतिहासिक सिंहावलोकन था। ऐसे सुन्दर उपाय से पुरानी सहस्राब्दी को विदा दे दी गई, और साथ ही नई का आवाहन किया गया। अनजान में हम लोगों ने भी जाति की ओर से ऐसे ही काम में हाथ लगाया है। विक्रम संवत् की तीसरी सहस्राब्दी के शुरू के साथ-ही-साथ कम-से-कम चार भारतीय इतिहास-ग्रन्थ बनाने की कोशिश चल रही है। काशी की भारतीय इतिहास-परिषद् ने सर यदुनाथ सरकार के सम्पादकत्व में भारतवर्ष का एक विराट् इतिहास बनाने का काम हाथ में लिया है,[1] जिसके पूरा होने में कई बरस लग जायँगे। वैसा ही दूसरा एक इतिहास भारतीय इतिहास-सम्मेलन भी बनाकर प्रकाशित करेगा।[2] ढाका-विश्वविद्यालय से बंगाल-प्रदेश के इतिहास

१—परिषद् की ओर से वकाटक-गुप्तकाल पर एक खण्ड प्रकाशित करके इसका काम समाप्त कर दिया गया है।

२—इस संस्था ने अभी तक एक भी खण्ड प्रकाशित नहीं किया है। भविष्य में भी प्रकाशन की कोई संभावना नहीं दिखाई पड़ रही है।

का पहला खण्ड शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।[1] उधर गुजरात से श्री कन्हैयालाल मुंशी के सम्पादकत्व में मूलराज सहस्राब्दी-जयन्ती के स्मारक The Glory that was of Gurjaradesa नामक इतिहास-ग्रन्थ निकलनेवाला है।[2] ये पुस्तकें हमारी आत्म-समीक्षा के लिए हम हिन्दू जाति या भारतीय जाति के लोगों ने इतने शतक-भर क्या-क्या किया, उस सबके दिग्दर्शन के लिए निहायत उपयोगी होंगी।

हम लोग चाहे जितने ही विचारशील हों, जितने ही वैज्ञानिक मनोभाव-युक्त हों, हमारे अन्तःकरण में कल्पना की या रसग्राहिता की एक धारा अन्तःसलिला फलगु नदी-सी बहती है। वह हमें कवि, भावुक या रसिक बना देती है। उसी के कारण हम एक मामूली दिन में बहुत-से गुण देखते हैं, किसी काल में विशेष कुछ माहात्म्य देखना चाहते हैं। कुछ विशेष मुहूर्त्त रहें या न रहें, हम ऐसे शुभ अवसर को छोड़ नहीं सकते। जो सहस्राब्दी बीत गई, उसमें भला और बुरा दोनों ही हमारे जीवन में महाकाल ला चुका है। इन भलों और बुरों की जाँच हम इस वक्त नहीं कर सकते। रुद्र के साथ अगर हमने एक पात्र से विष पिया है, तो भी हमें यह ज्ञान है कि हम अमृत के पुत्र हैं, हम मरने के नहीं। बुराइयाँ जो हमें पहुँची हैं, उनसे मुक्त होने के लिए ईश्वर हमें शक्ति दें, हमें एकता दें, हमें समर्थ बनायें। ये बुराइयाँ हमारी परीक्षा के लिए भाग्यदेवता की देन हैं। हम ईश्वर के सामने, पृथिवी की सब जातियों के सामने इस

१—डॉ० रमेशचन्द्र मजुमदार के सम्पादकत्व में इसका एक वृहत् खण्ड ढाका से और दूसरा तथा अंतिम खण्ड कलकत्ते से प्रकाशित हो चुका है।

२—श्री मुंशी की प्रस्तावित पुस्तक तीन खण्डों में भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, १९४३ में प्रकाशित हुई है।

परीक्षा में उत्तीर्ण हों। और जो अच्छी चीजें, जो भलाइयाँ हमें मिली हैं, उनके लिए ईश्वर के पादपीठ पर हमारी कृतज्ञता पहुँचे। हम दुःख का स्मरण करें, ताकि हम दुःख को दूर करने में चेष्टित हों; सुख का स्मरण करें, ताकि हम उत्साहित हों। हमारी राष्ट्रीय स्वाधीनता चली गई है। हममें बहुविध नीचताएँ और जड़ताएँ आ गई हैं। हमें फिर उच्चमना, साहसी और उत्साही बनना चाहिए; अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता और शक्ति को फिर जाग्रत करना चाहिए। कई महापुरुष अपने पुण्य जीवन के आदर्श हमारे सामने गए सहस्र वर्षों में लाए हैं—पृथ्वीराज चौहान, आचार्य हेमचन्द्र, रामानन्द, कबीर, राणा प्रताप, सायणाचार्य, महाप्रभु चैतन्य, गुसाईं तुलसीदास, सम्राट् अकबर, शिवाजी, समर्थ रामदास, गुरु नानक, गुरु गोविन्द-सिंह, रानी अहल्याबाई, विजयनगर के राजा कृष्णराय, राजा राम-मोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी। इनके आविर्भाव से साबित होता है कि ईश्वर ने हमें अब तक त्याग नहीं दिया है। हमें आशा है कि फिर हम अपने झण्डे को ऊँचा कर सकेंगे और नवीन सहस्राब्दी का स्वागत करते हुए हम ईश्वर से यह प्रार्थना करते हैं कि क्या काले, क्या गोरे, क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ब्राह्मण, क्या हरिजन—मनुष्य मनुष्य के भाई हैं, यह बोध हममें सुदृढ़ हो जाय। अपने पूर्वजों के कीर्त्ति-कलाप की चिन्ता करते समय हममें हमारी अपनी अयोग्यता के कारण मन में आत्मसमीक्षा और लज्जा और साथ-ही-साथ हमारे दोषों को गुणों में परिवर्त्तित करने की इच्छा और चेष्टा आ जाय। दूसरे किसी देश के न्याय्य हकूक को नुकसान पहुँचाए बिना हम अपने देश भारत को स्वाधीन, समृद्ध और पृथिवी-भूषण तथा जगजीवन बना सकें।

भारतीय आर्य-भाषा में बहुभाषिता

नव्य भारतीय आर्य-भाषा के शब्द निम्नांकित वर्गों में से एक के अन्तर्गत आते हैं—

(१) उत्तराधिकार-सूत्र से प्राप्त भारतीय आर्य (इंदो-यूरोपीय) शब्द (शब्द, धातु तथा प्रत्यय), जो प्राकृतज या **तद्भव** रूप में मिलते हैं।

(२) संस्कृत से उधार लिए हुए शब्द, जो **तत्सम** और **अर्ध-तत्सम** शब्द कहलाते हैं।

(३) भारतीय अनार्य शब्द, ठेठ **देशी** रूप, जो भारतीय आर्य-भाषा में आद्य भारतीय आर्य-काल से लेकर नव्य भारतीय आर्य-भाषा के निर्माण-काल तक प्रचलित रहा। इस श्रेणी के अंदर उन शब्दों का एक बड़ा समूह आता है, जिनकी उत्पत्ति वास्तव में इंदो-यूरोपीय नहीं है, और जिनके लिए उपयुक्त अनार्य (द्राविड़ तथा ऑस्ट्रिक) सम्बन्धों का पता लगाया गया है।

(४) **विदेशी** भाषाओं के शब्द, जो आद्य भारतीय आर्य-काल से (जिसका प्रारंभ वैदिक शब्दों में कुछ मैसोपोटैमियन शब्दों के मिलने से होता है) लेकर बाद तक प्रचलित मिलते हैं। इन शब्दों में प्राचीन ईरानी, प्राचीन-ग्रीक, मध्य-ईरानी, एक या दो प्राचीन चीनी, नवीन ईरानी (अथवा आधुनिक फारसी, जिनमें तुर्की और अरबी भी हैं), पुर्तगाली, फ्रेंच, और अंग्रेजी गिने जाते हैं।

(५) इनके अतिरिक्त कुछ अज्ञातमूलक शब्द हैं, जो न तो भारतीय आर्य-भाषा के हैं और न विदेशी हैं ; किंतु जिनका सम्बन्ध, जहाँ तक हमें ज्ञात है, भारत की अनार्य-भाषाओं के साथ भी निश्चित रूप से नहीं जोड़ा जा सकता।

ऊपर के पाँच वर्गों में भारतीय आर्य-भाषा के सम्पूर्ण शब्द आ जाते हैं। नव्य-भारतीय आर्य-भाषाओं के वे शब्द अपने या निजी हैं, जो वर्ग (१) के अन्तर्गत हैं, और भारतीय-उत्पत्तिवाले उच्चकोटि के निजी संस्कृत-गर्भित शब्द द्वितीय वर्ग के अन्दर आते हैं। वर्ग (३), (४) और (५) के शब्द बाहरी बोलियों से लिये गये हैं, चाहे वे देशी हों या विदेशी। उत्तर-भारत के अनार्यों ने आर्य-भाषाओं को उस समय से अपनाना प्रारम्भ कर दिया था, जब आर्य-भाषा-भाषी पंजाब में बसकर अपने प्रभाव को फैला रहे थे, और जब कि ब्राह्मण्य धर्म और संस्कृति की स्थिति पहली सहस्राब्दी ई० पू० के प्रथम भाग में गंगा की उपत्यका में दृढ़ हो गई थी। यह हालत आज तक जारी रही है, जब कि उत्तर भारत में अनार्य-भाषा-भाषी धीरे-धीरे आर्य-भाषाओं को अपना रहे हैं और जिसके फलस्वरूप कुछ शताब्दी में अनार्य-भाषा के सभी रूपों का लोप हो जाना अवश्यम्भावी दीख पड़ रहा है। जब पूर्व-वैदिक-काल में आर्यों और अनार्यों के सम्मिलन का प्रारम्भ हो गया था, तब यह अपरिहार्य था कि अनेक अनार्य शब्द तथा अनार्यों के कुछ बोलचाल के रीति-रिवाज, यदि प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष या गुप्त रूप से, आर्य-भाषाओं में मिल जायँ। आद्य तथा मध्य भारतीय आर्य-भाषाओं, तथा नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं में, अनार्य शब्दों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। उन विदेशी भाषा-भाषियों से, जो भारत में विजेता के रूप में आकर यहीं बस गये, यहाँ के निवासियों का मेलजोल होने के कारण पारस्परिक सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ा, और इसके परिणाम-स्वरूप भारतीय भाषाओं में अनेक विदेशी शब्दों का प्रादुर्भाव हो गया।

जो शब्द भाषा में किसी कमी की पूर्ति करता है, वह प्राकृतिक रूप से शीघ्र ही उस भाषा का अंग बन जाता है। जहाँ पर दो भाषा-भाषियों का सम्पर्क घनिष्ट हो जाता है, वहाँ उस सम्पर्क के प्रभाव से एक दूसरे की भाषा के कुछ शब्दों से परिचित हो जाना

स्वाभाविक ही है। इस प्रकार के भाषा-सम्बन्धी पारस्परिक प्रभाव के आरम्भ में आवश्यक या अपरिहार्य है कि एक भाषा का प्रयोग करनेवालों के लिए दूसरी भाषा के शब्दों के सम्बन्ध में कुछ व्याख्या दी जाय, जिससे वह उन शब्दों को भली प्रकार समझ सकें। मान लीजिए कि किसी देशी भाषा-भाषी को कोई ऐसा विदेशी शब्द समझाना है, जिसे केवल उस विदेशी शब्द के उच्चारण मात्र से वह नहीं समझ सकता, तब यह आवश्यक हो जाता है कि साथ साथ उस विदेशी शब्द का अनुवाद भी देशी-भाषा में इस प्रकार दिया जाय, कि देशी भाषा-भाषी उसे समझ सकें। इस प्रकार के अनुवाद-मूलक-समास या समस्त-पद (Translation-compounds) सभी भाषाओं में मिलते हैं, जो किसी जीवित-भाषा के सम्पर्क में आकर उनसे प्रभावित हुई हैं।

उदाहरणार्थ अंग्रेजी-भाषा को लीजिए। प्राचीन मध्य-अंग्रेजी-काल में, जब कि नार्मन फ्रेंच तथा अंग्रेजी इङ्गलैंड में साथ-साथ बोली जाती थी, तत्कालीन लिखित साहित्य में इस प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं—जैसे कि लगभग १२२५ ईसवी में लिखी हुई पुस्तक *Ancrene Riwle* नाम की पुस्तक में—*Cherite* thet is *luve*, in *desperaunce* that is in *unhope* and in *unbileave* forte beon iboruwen; understondeth thet two *manere temptaciuns*—two *kunne vondunges*—beoth; *pacience* thet is *thole-modnesse*; *lecherie* thet is *golnesse*, *ignoraunce* that is *unwisdom* and *unwitenesse*; इत्यादि (देखिए— Jespersen, 'Growth and Structure of the English Language,' Oxford, 1927, p. 89).

जब इङ्गलैंड में फ्रेंच का विशेष चलन था और उसके शब्द अधिकांश में अपनाये जा रहे थे, तब शायद उपर्युक्त रीति अधिक

प्रचलित हो गई थी, जिससे बाहरी भाषाओं के उपयुक्त शब्दों का भाषाओं में चालू किया जा सके। मध्य-अंग्रेजी काल के कवि (Chaucer) चॉसर ने ऐसे दर्जनों जुमले इस्तेमाल किये हैं, जिनमें कोई भाव फ्रेंच शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है और फिर उसी की व्याख्या और अनुवाद एक अंग्रेजी शब्द द्वारा किया गया है, या एक अंग्रेजी शब्द की पुष्टि फ्रेंच शब्द के द्वारा करा दी गई है (देखिए, जेस्परसेन, वही, पृ० ६०) ; उदाहरणार्थ—he coude songes *make* and wel *endyte* ; *faire* and *fetisly* ; *suinken* with his handes and *laboure* ; of studie took he most *cure* and most *hede* ; *poynaunt* and *sharp* ; *lord* and *sire*; वैसे कैक्स्टन (Caxton) के ग्रन्थों में—*honour* and *worship* ; *olde* and *auncyent* ; *advenge* and *wreke*; *feblest* and *wekest*; *good* ne *proffyt* ; *fowle* and *dishonestly* ; *glasse* or *mirrour*; इत्यादि। अंग्रेजी में फ्रेंच शब्द बिलकुल स्वाभाविक हो गये हैं, और अब इस बात की आवश्यकता नहीं है कि इन शब्दों को समझाने के लिए अंग्रेजी में व्याख्या दी जाय। इस कदर काम हिन्दी को उर्दू बनाने के लिए अमीर खुसरो ने अपने पद्य-बन्ध अभिधान "खालिक-बारी" के द्वारा किया था।

भारतीय आर्य-भाषाओं में विदेशी शब्दों को किसी देशी या अन्य ज्ञात शब्द के द्वारा स्पष्ट करने की प्रथा मिलती है। इनमें अनेक समस्त-पद (Compounds) पाये जाते हैं, जिनमें दो शब्द होते हैं, और दोनों प्रायः एक ही अर्थ के सूचक होते हैं। नव्य-भारतीय-आर्य-भाषा के अनुवाद-मूलक शब्दों में वे पद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें एक शब्द विदेशी होता है, या एक ऐसा नया विदेशी-शब्द होता है, जिसकी व्याख्या एक प्राचीन या प्रचलित शब्द के द्वारा दी जाती है। इस अनुवादमूलक समस्त-पदों में प्रायः

बड़ी शक्ति होती है, और कभी-कभी वे किसी बात को विशिष्ट रूप से प्रकट कर देते हैं। विदेशी या नये शब्द किसी अभिप्राय के नवीन दृष्टिकोण को सूचित करते हैं। यहाँ बँगला भाषा से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

चा-खड़ी = चाक् (ब्लैकबोर्ड पर लिखने के लिए)। यह अंग्रेजी के उस chalk चौक् या चोक शब्द का समस्त-पद है, जो पहले-पहल आमतौर पर लोगों की समझ में नहीं आता था, जिसका अंग्रेजी में उच्चारण *चाक्* तीन या चार पीढ़ियों पहले था। इसके बाद बँगला की *खड़ी* (खड़िया) शब्द मिलाने से *चाक-खड़ी* या *चाखड़ी* हो गया।

पाउँ-रुटी (= हिन्दी पाउँ-रोटी) = पुर्त्तगाली pao, paon पाओं (= रोटी, उच्चारण पाउँ) + बंगला रु॑टी, हिन्दुस्तानी रोटी (= चपाती); समास का पद अंग्रेजी तन्दूर की रोटी या खमीर दी हुई रोटी के अभिप्राय में आता है, जो हिन्दुस्तान में प्रचलित चपाती से भिन्न है।

काज-घर = बटन का छेद। casa (उच्चारण काज़्अ) = मकान + बँगला में घर मकान। अतः घर (बटन के लिए)।

सील-मोहर = किसी व्यक्ति की धातु की मोहर जिस पर उसका नाम चिह्न अंकित रहता है; अंग्रेजी के seal *सील* + फ़ारसी के *मुहर* के योग से बना है, और बँगला में सिर्फ *मोहर* के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

फ़ारसी तथा भारतीय शब्दों के योग से मिले हुए शब्द काफी संख्या में मिलते हैं। यहाँ बँगला से कुछ उदाहरण देना पर्याप्त होगा। (हिन्दुस्तानी तथा भारत की अन्य भाषाओं में ऐसे या इनसे मिलते-जुलते और कभी-कभी बिलकुल एक जैसे ही रूप अवश्य मिलेंगे)।

आशा-सोटा = गदा : फ़ारसी-अरबी का शब्द *असा* + हिन्दुस्तानी *सोटा* : सोटा = डंडा या गदा।

खेल-तमाशा — खेल-कूद आदि : हिन्दुस्तानी *खेल* + फ़ारसी *तमाशा* ।

शाक-शब्ज़ी = हरी तरकारी : संस्कृत शब्द *शाक* = हरी तरकारी, साग, जड़ी-बूटी + फ़ारसी *सब्ज़:* = हरी भाजी ।

लाज-शरम या *लज्जा-सरम* : हिन्दुस्तानी *लाज* (आर्य-भाषा का प्राकृतज शब्द) और *लज्जा* (संस्कृत) + फ़ारसी *शर्म* । दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है ।

धन-दौलत = सम्पत्ति : हिन्दुस्तानी + फ़ारसी (फारसी-अरबी) ।

जन्तु-जानवर = संस्कृत जन्तु + फ़ारसी जानवर

राजा-बादशाह = राजा, शासक : हिन्दुस्तानी *राजा* + फ़ारसी *बादशाह* ।

लोक-लश्कर = नौकर चाकर : भारतीय *लोक* (लोगों का समूह) + फ़ारसी *लश्कर* (फ़ौज, दल) ।

हाट-बाजार = बाजार, मेला : हिन्दुस्तानी *हाट* + फारसी *बाजार* । दोनों का एक ही अर्थ है ।

झंडा-निशान = झंडा ध्वजा : हिन्दुस्तानी *झंडा* + फ़ारसी *निशान* (= बंगला का *झांडा-निशान*, हिन्दी झडा-निशान) ।

हाड़ी मुर्दफराश = झाड़ू लगानेवाले, मसान या गोरस्थान में शवों के सत्कार करने वाले : बंगला *हाड़ी* (मेहतरों का अछूत वर्ग) फारसी *मुर्दा-फरोश* = मुर्दा ढोनेवाले ।

लेप-कांँथा = ढकने का वस्त्र, रजाई आदि : *लेप* = फारसी लिहाफ + बँगला *कांँथा* = संस्कृत कंथा (पुराने कपड़ों की सिली हुई *कथरी*) । Rouan

आदाय-वसूल = कर्ज या भाड़े का उगाहना : संस्कृत *आदाय* + फारसी-अरबी का *वसूल* ।

कागज़-पत्र = काग़ज़ात : फ़ारसी *कागज़* + संस्कृत *पत्र*

गोमस्ता-कर्मचारी=प्रतिभू या कर्मचारी : फ़ारसी *गुमाश्ता*+ संस्कृत *कर्मचारी*।

निरीह-बेचारा=सीधा-सादा, गरीब व्यक्ति : संस्कृत *निरीह्*+ फ़ारसी *बेचारा*।

ऊपर के उदाहृत *अनुवाद-मूलक समस्त-पदों* के अतिरिक्त जिनमें विदेशी प्रभाव कुछ स्पष्ट है, कुछ और पद हैं जिनमें दोनों भागों में देशीपन मिलता है। उदाहरणार्थ—

(*पाहाड़*) (*पहाड़*) *पर्वत*=देशी *पाहाड़* (उत्पत्ति या मूल अज्ञात)+ संस्कृत *पर्वत*।

घर-बाड़ी=घर (मकान)+*बाड़ी* (<*गृह*+*वाटिका*<*वृत्*)

गाछ-पाला=पौदे : *गाछ*<*गच्छ*+*पाला*=*पल्लव*।

हाँड़ी-कुँड़ी=मिट्टी के बर्तन, *हाँड़ी*<*भाण्ड*+*कुण्ड*।

ऐसे उदाहरण अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओं से बहुशः दिये जा सकते हैं। इनमें से कुछ द्वन्द्व-समास सरीखे हैं, जिनमें संयोग या सम्मेलन का भाव होता है। उदाहरणार्थ—

कापड़-चोपड़=कपड़े और डलियाँ : *कापड़*<*कर्पट*=कपड़े, कीथड़े+चोपड मिलाओ *चुपड़ी*, *चोपड़ी*=डलिया।

संभवतः पहले *द्वन्द्वात्मक* भावना यहाँ थी, किन्तु बहुत-से स्थानों में हम शब्दों को एकार्थी होने के कारण एक-दूसरे की व्याख्या करते हुए पाते हैं। जैसे बँगला *बाक्स-पेंड़ा*=बकसे और *पिटारे* अंग्रेजी *बॉक्स* (जिसका उच्चारण एक शताब्दी पहले "बाक्स" baaks था)+ बंगला *पेंट्रा*, *पेंड़ा*<*पेटक*=हिन्दी *पेटी*।

कुछ बँगला के शब्दों में देशीपन साफ झलकता है। उदाहरण के लिए बँगला *पोला-पान*=बच्चे (पूर्वी बँगला की बोली में प्रयुक्त)- यहाँ *पोला* संस्कृत *पोत-ल* से है, और *पान* आस्ट्रिक शब्द प्रतीत होता है, जो संथाली (कोल) में *हॉपॉन* के रूप में मिलता है, 'पान' इस शब्द का सादा रूप है। इसी प्रकार बँगला *छेले पिले* का भी

अर्थ *लड़के-बच्चे* हैं, और इसकी उत्पत्ति प्राचीन बँगला *छालिया-पिला* से है। (*छालिया* या *छावालिया*=प्राचीन भारतीय आर्य *शाब+ +आल+ +इक+ +आक*, और *पिला* जो उसी रूप में उड़िया भाषा में प्रयुक्त होता है और जिसके माने हैं लड़का, बच्चा या जानवर का बच्चा—इसका सम्बन्ध द्राविड़ भाषा के साथ जोड़ दिया गया है " मिलाओ तमिल " पिल्लै शब्द)।

इस प्रकार नव्य-भारतीय-आर्य-भाषा-सम्बन्धी सम्मिश्रण का पता चलता है, प्रचलित भाषाओं में प्रयुक्त मिलता है। इस प्रकार के शब्दों—जैसे *छेले-पिले*, *चाखड़ी*, *पाउँरुटी*, *राजा-बादशाह* आदि के विश्लेषण से पता चलता है कि वे अपने समस्त-पद-मूलक शब्द हैं, और वे अपने रूप को कायम रखते हुए भी एक मामूली बात को ही सूचित करते हैं। यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार विभिन्न भाषाओं के शब्दों ने मिलकर नव्य-भारतीय-आर्य-भाषा के निर्माण में योग दिया है। भारतीय प्राकृत तथा संस्कृत से आये हुए शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ हम यहाँ ' देशी ' या अनार्य भाषाओं के, तथा फारसी, अरबी, पुर्तगाली और अंग्रेजी के भी शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग पाते हैं। इन शब्दों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि नव्य-भारतीय-आर्य-काल में भारतीय लोगों में बहुभाषिता प्रचलित हो गई थी।

जब हम मध्य-भारतीय आर्य तथा आद्य-भारतीय आर्य-भाषाओं में, जिनका साहित्य अनेक प्रकार की प्राकृतों तथा संस्कृत में है, उपर्युक्त बात का पता लगाते हैं, तो उनमें भी वही स्थिति पायी जाती है। इस समय थोड़े ही प्राकृत और संस्कृत शब्दों की बाबत हमें मालूम है, जिनसे पता चलता है कि १५००, २००० या २५०० वर्ष पहले भी भारत में न केवल भारतीय आर्य-भाषाएँ ही प्रचलित थीं, अपितु अनार्य बोलियाँ तथा विदेशी बोलियाँ भी बोली जाती थीं, जो बहुत ही चालू हालत में थीं, और जिनका भारतीय आर्य-भाषा पर

व्यापक प्रभाव पड़ा था। हम यहाँ कुछ ऐसे संस्कृत और प्राकृत शब्दों पर विचार करेंगे, जो वास्तव में अनुवादमूलक समस्तपद हैं।

(१) संस्कृत *कार्षापण*—पाली *कहापन*, प्राकृत *कहावण*, बँगला *काहन* : 'एक प्रकार का बाँट', 'एक कार्ष की तोल का सिक्का'। यह शब्द दो शब्दों के योग से बना है—*कार्ष* तथा *पण*। पहले शब्द का मूल कर्ष है, जिसका अर्थ है एक नाप या तोल। मालूम होता है कि कर्ष शब्द हखामनी (Achaemenian) राजाओं के युग के ईरान का है, जिस देश का प्राचीन भारत की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर काफी प्रभाव पड़ा था। पण शब्द को डा० प्रबोधचंद्र बागची ने संख्यासूचक शब्द माना हैं और इसकी उत्पत्ति ऑस्ट्रिक (कोल) भाषा से मानी है। इस प्रकार *कार्षापण* शब्द एक व्याख्यात्मक समास-पद है, जिसमें प्राचीन ईरानी भाषा तथा आर्य-भाषा-प्रभावित ऑस्ट्रिक का सम्मिलित रूप दृष्टिगोचर है।

(२) *शालि-होत्र*—यह दूसरा मनोरंजक शब्द है, जो संस्कृत से मिलता है। 'यह शब्द प्राचीन काव्य में *अश्व* का द्योतक है', ऐसा मॉनियेर विलियम्स (Monier-Williams) ने अपने संस्कृत अभिधान में लिखा है। पुराने ढंग के विद्वानों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि घोड़े का *शालि-होत्र* नाम इस कारण है कि उसे (*धान*) शालि भोजन (होत्र) के लिए अर्पित किया जाता है। अश्व को *शालि-होत्रिन्* भी कहा जाता है। पालतू जानवरों की बीमारियों के सम्बन्ध में एक ऋषि ने ग्रंथ लिखा था, उन ऋषि का नाम भी *शालिहोत्र* मिलता है। इस अर्थ में यह शब्द भारतीय सेना में अब भी चालू है, जिसमें घुड़सवार सेना के घोड़ों का चिकित्सक *सोलत्री* कहलाता है। हिन्दुस्तानी में यह शब्द *शालोतरी* या *सालोतरी* लिखा जाता है। शालिहोत्र शब्द द्वन्द्व है, और इसके दोनों शब्द

१—देखिए J R S A. १९२१, पृ० २७३

भिन्न-भिन्न बोलियों के होते हुए भी एक ही अर्थ के सूचक हैं। संस्कृत शब्द *शालि* का, जिसका अर्थ चावल है, मूल दूसरा है। यहाँ *शालि-होत्र* का *शालि* शब्द निसन्देह वही है, जो हमें *शालि-वाहन* में मिलता है। *शालि* का दूसरा पाठ *सात* (*सातवाहन*) में भी मिलता है। मां पूशेलुस्कि (Jean Przyluski) ने यह सिद्ध किया है कि *शालि* या *सात* शब्द प्राचीन कोल (आस्ट्रिक) का शब्द है, जिसका प्रयोग घोड़े के अर्थ में होता है (संथाली भाषा में इसे *साद-ओम्* , *सादोम* बोला जाता है)। प्राचीन भारत की चालू बोलियों में *साद* या *सादि* (=घोड़ा) के प्रयुक्त होने का प्रमाण संस्कृत शब्द *साद* ' (घोड़े की पीठ पर) बैठना या चढ़ना ' में मिलता है। इसके अन्य रूप *सादि*, *सादिन्* , *सादित्* (मिलाओ *अश्व-सादि*=घोड़े पर चढ़ने वाला) भी मिलते हैं। यही शब्द निस्संदेह *शालि-वाहन*, *सातवाहन* तथा *शालिहोत्र* के साथ जुड़ा हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि *शालि* शब्द, जिसका अर्थ *अश्व* है, मूलतः ऑस्ट्रिक भाषा का शब्द है। *होत्री*, *होत्र* शब्द का अर्थ भी संभवतः यही होगा। यह शायद ऐसा शब्द है, जिसे हम द्राविड़ों के साथ सम्बद्ध कर सकते हैं।

घोड़े के लिए इंदो-यूरोपीय शब्द जो संस्कृत में मिलता है, वह *अश्व* ही है। बाद में *अश्व* के लिए *घोट* शब्द भी संस्कृत में प्रयुक्त होने लगा, जिसका मूल अज्ञात है। भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त की पिशाच या दरद भाषाओं में एक या दो को छोड़कर भारत में *अश्व* शब्द का प्रयोग अन्यत्र नहीं पाया जाता। *घोट* तथा उससे निकले हुए अन्य शब्द, जो *अश्व* के लिए प्रयुक्त होते हैं, भारतीय आर्य तथा द्राविड़ भाषाओं में पाये जाते हैं। *घोट* शब्द मूलतः प्राकृत का मालूम होता है। इसके प्राचीन रूप *घुत्र* और *घोत्र* थे। इन रूपों से द्राविड़ भाषा के अश्व-वाचक शब्द काफी मिलते-जुलते हैं। उदाहरणार्थ 'तमिल *कुतिरै*, कन्नड़ *कुदुरे*, तेलुगू *गुर्रमु*। *घुत्र*,

घोट तथा *कुतिरै* शब्दों का मूल अनिश्चित है; पर ये काफी प्राचीन शब्द हैं और इनका प्रचलन पश्चिम-एशिया में बहुत अधिक है। घोड़े के लिए प्राचीन मिस्री (Egyptian) भाषा का एक शब्द, जो निस्संदेह एशिया-माइनर या मेसोपोटैमिया से आया है, *हतृर्* (Htr) है, जो घुत्र का एक दूसरा रूप प्रतीत होता है। गधे के लिए आधुनिक ग्रीक शब्द *गदैरोस्* (Gadairos) तथा खच्चर के लिए तुर्की शब्द *कातिर* (Katyr), *घुत्र-हतर* शब्द से ही सम्बद्ध जान पड़ते हैं। इस स्थान पर हम इस शब्द को भारत से बाहर का (एशिया-माइनर का ?) यानी अनार्य भाषा का कह सकते हैं, जिसे सम्भवतः द्राविड़ लोग यहाँ लाये। हो सकता है कि यह असली द्राविड़ शब्द है, और यह भी विचारणीय है कि स्वयं द्राविड़ शब्दों की मूल उत्पत्ति शायद भूमध्य-सागर के आसपास क्रीट द्वीप से हुई। *शालिहोत्र* शब्द के दूसरे पद में *घोट* का प्राचीन रूप *घोत्र* का विकार *होत्र* भी दिखाई पड़ता है। *शालिहोत्र* = *अश्व* = घोड़े के लिए ऑस्ट्रिक शब्द *साद* + उसका समानार्थी द्राविड़ शब्द *घोत्र*। इस दशा में *अश्व-सादि* शब्द आर्य तथा ऑस्ट्रिक भाषाओं का सम्मिलित अनुवादमूल समस्त-पद होगा।

(३) पिछले संस्कृत-साहित्य में *पालकाप्य* मुनि का नाम हाथियों को शिक्षित करने के सम्बन्ध में लिखे हुए ग्रन्थ के प्रणेता के रूप में आता है। उसके सम्बन्ध में कुछ कथाएँ भी मिलती हैं, जिनसे पता चलता है कि वे अंग्रेजी औपन्यासिक रुडियर्ड किपलिंग द्वारा वर्णित एक प्रकार के Mowglie थे; माव्ग्ली ऐसा लड़का था, जो बचपन से लक्कड़बग्घों के द्वारा पालित हुआ था और *पालकाप्य* का भी हाथियों द्वारा पालन हुआ था, और वे हाथियों के बीच में रहा करते थे। *पालकाप्य* नाम की पुरानी व्याख्या इस प्रकार दी गई है कि *पाल* वैयक्तिक नाम है और *काप्य* गोत्र का नाम है। *काप्य* की उत्पत्ति *कपि* से हुई है, जिसका संस्कृत में प्रायः बन्दर के लिए प्रयोग होता

है। परन्तु जान पड़ता है कि *पालकाप्य* एक अनुवादमूलक समस्त पद है, जो बिलकुल *शालि-होत्र* शब्द के ही समान बना है। *पालकाप्य* के दोनों शब्द दो भिन्न भाषाओं से लिये गये हैं और प्रत्येक शब्द हाथी के लिए प्रयुक्त हुआ है, और जिस प्रकार *शालि-होत्र* शब्द वैयक्तिक नाम का सूचक है, उसी प्रकार *पाल-काप्य* संज्ञा एक ऐसे ऋषि की दी हुई है, जो हाथी के पालन आदि के सम्बन्ध में अच्छे ज्ञानी और अधिकारी लेखक समझे जाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि *शालि-होत्र* और *पाल-काप्य* जैसे साधारण शब्द भी किस प्रकार व्यक्ति-विशेष के सूचक शब्द बन सकते हैं। द्राविड़ भाषाओं में *पाल* शब्द हाथी और हाथी-दाँत का सूचक है। इनमें इस शब्द के अनेक रूप मिलते हैं।[1]

इस बारे में एक बात और जान लेनी है कि *पाल-काप्य* ऋषि का एक अन्य नाम *करेणु-भू* (=हथिनी का पुत्र) भी मिलता है, जिससे पता चलता है कि ऋषि के नाम का कुछ सम्बन्ध हाथियों से अवश्य है। *काप्य* शब्द की व्युत्पत्ति श्री प्रबोधचंद्र बागची ने अपने लेख में दी है और उन्होंने साफ दिखा दिया है कि *कपि* शब्द हाथी का भी सूचक है, कम-से-कम हाथी के समानार्थक शब्द के रूप में उसका प्रयोग मिलता है। डा० बागची ने *गज-पिप्पली* शब्द के लिए *करि-पिप्पली*, *इभ-कण*, *कपिवल्ली* तथा *कपिल्लिका* आदि अनेक समानवाची शब्द दिये हैं, जिनमें गज, *कर*, *इभि* तथा *कपि* शब्द निस्संदेह एक ही अर्थ के बोधक हैं। जंगली कैथा का एक नाम कपित्थ (मिलाओ अश्वत्थ=पीपल) पाया जाता है। इस फल को

१—इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देखिये—J. Przyluski, Notes indienses, Journal Asiatique, १९२५, पृष्ठ ४६-४७ तथा श्री प्रबोधचन्द्र बागची का इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, १९३३ पृ० २५८ में प्रबन्ध।

हाथी बड़े शौक से खाते हैं, और संस्कृत में एक लोकोक्ति है—*गज-भुक्त कपित्थवत्* (=एक ऐसे कपित्थ के समान, जिसे हाथी ने खाया हो ; यह कहा जाता है कि जब हाथी कपित्थ फल को निगल लेता है तब उस फल का ऊपरी कड़ा गोला वैसे-का-वैसा ही बना रहता है, और फल का गूदा हाथी के पेट में चला जाता है। इस प्रकार फल का ऊपरी ढक्कन ही बाहर रह जाता है।) क्या इस बात से हम यह कह सकते हैं कि *कपित्थ* का *कपि* शब्द भी हाथी का सूचक है ? इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि कुछ पश्चिमी एशियाई तथा आसपास के देशों की भाषाओं—उदाहरणार्थ हिब्रू तथा प्राचीन मिस्री (Egyptian)—में एक समानवाची शब्द हाथी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिब्रू में हाथी दाँत के लिए *शन्-हब्बीम्* (Shenhabbim) शब्द है। *शेन* का अर्थ 'दाँत' और *हब्बीम* का अर्थ 'हाथी' है : यह शब्द बहुवचन का है, एकवचन में इसका रूप *हब्* और *हब्ब्* होगा। प्राचीन मिस्री भाषा में भी हाथी के लिए *हब्* या *हब्ब्* शब्द है। हिब्रू तथा मिस्री शब्दों *हब्ब्* और *हब्* की तुलना *कपि* शब्द से की जा सकती है। *कपि*=*हब्* शब्द का मूल अज्ञात है। सम्भवतः यह उसी प्रकार का है, जैसे *घोट-घुत्र-कुतिरै-हूर्-गदैरोस-कातिर* शब्द। मेरा यह अनुमान है कि *पाल-काप्य* द्राविड़ तथा भारत-बहिर्भूत और किसी अनार्य भाषा के दो पदों से मिलकर बना हुआ एक अनुवाद-मूलक समस्त-पद है, असंगत न ठहरेगा।

(४) गोपथ ब्राह्मण में *दन्तवाल धौम्र* नामक एक ऋषि का उल्लेख है, जो जन्मेजय के समकालीन थे। यह नाम *दन्ताल धौम्य* से भिन्न है, जो जैमिनीय ब्राह्मण में जनक विदेह के समकालीन कहा गया है।[1] *धौम्र* अपत्य-नाम है ; पर *दन्तवाल* शब्द का, जो कि

१—डा० हेमचंद्र राय चौधुरी का मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मेरा ध्यान इन नामों की ओर आकर्षित किया है।

एक वैयक्तिक नाम है, क्या अर्थ हो सकता है ? क्या यह *दन्त-पाल* के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो दूसरा *दन्ताल* नाम है ? उसका अर्थ 'लंबे या बड़े दाँतों वाला' हो सकता है। पर *वाल*<*पाल* प्रत्यय (जो 'रखने वाला' या 'पालने वाला' के अर्थ को सूचित करता है) भारतीय आर्य-भाषा के इतिहास में अपभ्रंश-वाली स्थिति के पहले नहीं पाया जाता। अतः वह बहुत प्राचीन नहीं है। मेरा अनुमान है कि *दन्त-वाल* शब्द *दन्त-पाल* के लिए ही प्रयुक्त हुआ है और आर्य तथा द्राविड़ भाषाओं में एक-एक पद से मिल कर बना हुआ समस्त-पद है, जिसका अर्थ *हाथी* या *हाथी का दाँत* है। इसमें *दंत* संस्कृत शब्द है, और *पाल* द्राविड़।

(५) भारतीय इतिहास के शक-काल में अनेक शक (तथा अन्य ईरानी) नाम और विरुद शकों के द्वारा भारत में लाये गये। एक ऐसा ही नाम *मुरुण्ड* है, जिसका अर्थ शक-भाषा में *राजा* है। भारतीय शकों के अभिलेखों में *मुरुण्ड-स्वामिनी* शब्द मिलता है, जो उपर्युक्त समानार्थक समास-पद का एक उदाहरण है।

(६) इसी प्रकार कुछ अन्य शब्द भी विचारणीय हैं; परन्तु अभी तक उन शब्दों की उत्पत्ति तथा उनके तुलनात्मक विचार के सम्बन्ध में विद्वानों का ध्यान नहीं गया। प्राग्ज्योतिष के राजा वैद्यदेव (११वीं शती के उत्तरभाग) के कमौली से मिले हुए ताम्र-पत्र में *जउगल्ल* नामक एक छोटी नदी का उल्लेख है। यह शब्द दो पदों से मिल कर बना है—*जउ*<संस्कृत *जतु*='लाख या लाह'+*गल्ल* (बँगला का *गाला*), जिसका भी अर्थ *लाख* है (बँगला भाषा में भी *जतु*—*जउ* का *जौ* रूप मिलता है)। शायद *गल्ल* का अर्थ पहले-पहल 'गलाई हुई लाख' रहा हो, परन्तु ऊपर जो उदाहरण दिये जा चुके हैं, उनसे इस प्रकार शब्दों का गड्डमड्ड समझ में आ सकेगा।

(७) बौद्ध संस्कृत के महाग्रंथ महावस्तु में *इक्षु-गंड* नामक एक शब्द ईख या गन्ने के लिए प्रयुक्त हुआ है। मध्य-भारतीय-आर्य-

भाषाओं में इक्षु के रूप *ईख, आख,आउख, ऊख, ऊस* मिलते हैं। *गण्ड* शब्द का नव्य-भारतीय-आर्य-भाषा (हिन्दुस्तानी) में *गन्ना* या *गँडेरी—गँडरी* रूप है। इस प्रकार हम यहाँ भी दो समानार्थक शब्दों को, जो प्राचीन भारत में प्रचलित दो भिन्न भाषाओं में से लिये गये हैं, सम्मिलित रूप में प्रयुक्त पाते हैं।

(८) इसी प्रकार महावस्तु में एक दूसरा शब्द *गच्छ-पिण्ड* है। यह एक विचित्र समास है और इसका अर्थ 'वृक्ष' है। *गच्छ* शब्द बँगला में (तथा उससे सम्बद्ध पूर्व भारत की भाषाओं में) *गाछ* = 'वृक्ष' के रूप में आता है। मूलतः इस शब्द का अर्थ 'संवर्धन' है, जो एक पौदे के ऊँचे उठने या बढ़ने का सूचक है। (संस्कृत धातु *गम्-गच्छ* से)। *पिण्ड* का अर्थ समूह या ढेर है। इस प्रकार *गच्छ-पिण्ड* का अर्थ 'बढ़ता हुआ ढेर' बहुत विचित्र मालूम पड़ेगा। परन्तु एक पौदे या वृक्ष जैसी मामूली वस्तु के लिए ऐसा टेढ़े अर्थ वाला शब्द क्यों प्रयुक्त किया गया? हमें याद रखना चाहिए कि *पिण्ड* शब्द का ही हिंदुस्तानी में प्रचलित रूप पेंड़ है, जो वृक्ष के लिए आता है। इस पेंड़ शब्द का मूल क्या है? नव्य-भारतीय-आर्य-भाषा द्वारा हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि *गच्छ-पिण्ड* का और कोई शाब्दिक अर्थ न होकर केवल 'वृक्ष-वृक्ष' है।

(९) *गच्छ-पिण्ड* तथा अन्य शब्दों के समान ही अपभ्रंश का *अच्छ-भल्ल* है, जो रीछ या भालू के लिए प्रयुक्त होता है। *अच्छ* शब्द आर्य या इंदो-यूरोपीय है। संस्कृत में *ऋक्ष* शब्द है (जिसका हिन्दुस्तानी में प्राचीन अर्धतत्सम रूप 'रीछ' है)। *भल्ल* नव्य भारतीय-आर्य-भाषाओं के भल्लुक वाचक कुछ शब्दों का मूल रूप है, जिससे *भालू* (हिंन्दुस्तानी) तथा *भालुक, भाल्लुक* (बंगला) शब्द बने, जिनका अर्थ 'रीछ' है। कुछ लोगों ने *भल्ल* को आद्य भारतीय आर्य-भाषा के *भद्र* शब्द का रूप माना है। ऐसा मानने पर *अच्छ-भल्ल* का अर्थ अच्छा या सीधा भालू होगा। वह भी असम्भव नहीं, क्योंकि प्रायः

बुरे या भयंकर जानवरों का केवल नाम लेना प्रशस्त नहीं समझा जाता। (इस प्रकार के जानवरों का नाम लेने से यह माना जाता है कि वह जानवर निकट आ जायगा)। इसी विचार के आधार पर शायद रीछ का नाम *भल्ल* = 'अच्छा या सीधा जानवर' रखा गया, और धीरे-धीरे यही नाम उस जानवर का हो गया। ऐसी ही बात रूसी भाषा में है, जिससे रीछ को *मेद्वेद्* ('मधु खाने वाला', मिलाओ सं० *मध्वद्*) कहते हैं। इस बात का अनुसंधान कि *भल्ल* शब्द का सम्बन्ध भारतीय आर्य-भाषाओं के बाहर किसी भाषा में मिलता है या नहीं, शायद मनोरंजन सिद्ध होगा।

(१०) संस्कृत के शब्द *कञ्चूल*, *कञ्चूलिका* (= कंचुकी, जाकट) *चोलिका* शब्द से मिलाये जा सकते हैं, जिसका भी अर्थ वही है। ये शब्द भारत की आधुनिक प्रचलित भाषाओं में भी मिलते हैं। *कञ्चूल* या *कञ्चुकी* पहले पहल 'स्तनों के ऊपर बाँधे जाने वाले वस्त्र' के सूचक थे। *चोलिका-पट्ट* का अर्थ 'मध्य भाग के लिए प्रयुक्त वस्त्र' है। *कञ्चूल*, *कञ्चूलिका—कन्* + *चोलिका* इन दो शब्दों से मिल कर बने हुए जान पड़ते हैं। *कन्* ऑस्ट्रिक शब्द है जिसका बँगला का रूप *कानि* = 'चीथड़ा' है (मिलाओ, मालय भाषा का शब्द *काइन* Kain = कपड़ा)। *चोल* शब्द *चेल* (= वस्त्र) से सम्बद्ध हो सकता है। *चेल* शब्द की उत्पत्ति अज्ञात है।

(११) *कायस्थ-प्रभु*—महाराष्ट्र में यह एक जाति का नाम है। कायस्थ प्राचीन काल में लेखकों के वर्ग का नाम था। राष्ट्र के कुछ अन्य दीवानी अफसर भी इसी जाति के होते थे; परन्तु *कायस्थ* शब्द की उत्पत्ति कैसे हुई, यह अज्ञात है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह शब्द मूलतः ईरानी है। प्राचीन फारसी में राजा के लिए *ख़्षायथिय* (Khshayathiya) शब्द मिलता है। इससे प्राचीन प्राकृत का रूप *खायथिय* बना होगा, जिससे *कायत्थ* बन सकता है, और उससे संस्कृत रूप *कायस्थ* बन गया होगा। एक केंद्रित शासन

में छोटे अफसरों, क्लर्कों तथा मंत्रियों आदि के लिए सम्मानार्थ प्रयुक्त *कायस्थ* शब्द सम्भवतः उस काल की ओर संकेत करता है, जब उत्तर-पश्चिम भारत में ईरानी सभ्यता की प्रभुता थी। अतः महाराष्ट्र में प्रचलित कायस्थ-प्रभु शब्द *मुरुंड-स्वामिनी* शब्द की तरह (ऊपर न० ५), एक अनुवाद-मूलक समस्त-पद सिद्ध होगा।

(१२) संस्कृत का *गौर* शब्द एक प्रकार की भैंस के लिए प्रयुक्त होता है। *गौर* का शाब्दिक अर्थ 'सफेद' है। किन्तु भैंस काली होती है, और उसके साथ इस विशेषण को सम्बद्ध करना असङ्गत प्रतीत होता है। *गवय, गवल* तथा *गोण* अन्य संस्कृत नाम हैं, जो भैंस और बैल के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनकी उत्पत्ति *गौ* या *गव्* से हुई है। हो सकता है कि *गौर* एक अनुवाद-मूलक समस्त-पद है, जो आर्य-भाषा के *गौ, गो* तथा ऑस्ट्रिक (कोल) के *उर* (= जानवर) शब्दों से मिलकर बना है। संथाली और मुंडारी भाषाओं में *उरि* शब्द गाय और भैंस के लिए प्रयुक्त होता है।

(१३) संस्कृत *तुंडि-चेल* = 'एक प्रकार का वस्त्र'। ऐसे वस्त्र का उल्लेख बौद्ध संस्कृत ग्रंथ दिव्यावदान में मिलता है। *चेल* आर्य-भाषाका शब्द है, जिसका सम्बन्ध *चीर* शब्द से है, जो उसी धातु से निकला है, जिससे हिन्दी का *चीरना* और बँगला का *चिरा*। इस प्रकार *चीर, चेल* का अभिप्राय 'वस्त्र के टुकड़े' से है। *तुंडि चेल* के पहले पद का मूल रूप द्राविड़ भाषाओं में मिलता है (तामिल *तुंटु* या *तुंडु*, कन्नड़ *तुंडु*, तेलुगू *तुंट* = 'टुकड़ा, कपड़े का एक छोटा टुकड़ा, तौलिया')।

(१४) संस्कृत *मुसार-गल्व* = 'एक किस्म का मूँगा, एक प्रकार का चमकीला कीमती पत्थर है।'

मैंने अन्यत्र *मुसार* शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में लिखा है, मेरे मत से यह शब्द प्राचीन चीनी भाषा से भारत में आया है। जिसमें कीमती या मामूली पत्थर के लिए *म्वा-सार* (mwa-sar)

शब्द आता है। प्राचीन चीनी भाषा में इस शब्द का सम्बन्ध फारसी और अरबी के *बुस्सद्* और *बिस्सद्* (bissad, bussad) (= मूँगा) शब्दों से जान पड़ता है। आधुनिक चीनी में इसका उच्चारण है मू-सा (mu-sa) प्राचीन चीनी में इसका उच्चारण था *म्वा-सार* (mwa-sar) और *ब्वा-साध्* (baw-sadh)।

दूसरा पद *गल्व*, जिसका रूप *गल्ल* भी मिलता है, मेरे विचार से पत्थर के लिए साधारणतः प्रयुक्त द्राविड़ शब्द है। तमिल में इसका रूप *कल्*, तेलगु में *कल्लु* और ब्राहुई में *खल्* मिलता है। सिंहली भाषा में *गल्ल* शब्द आता है, जो द्राविड़ भाषा के *गल* या *गल्ल* से लिया गया है।

इस प्रकार *मुसार-गल्ल* शब्द चीनी तथा द्राविड़ भाषाओं का सम्मिलित अनुवाद-मूलक रूप है, जिसे प्राचीन भारत में पहले प्राकृतों में और संस्कृत में अपना लिया गया है।

यद्यपि स्पष्ट तथा भलीभाँति प्रमाणित उदाहरणों की संख्या बहुत नहीं है, तो भी आद्य-भारतीय-आर्य (संस्कृत) तथा मध्ययुगीय-भारतीय-आर्य (प्राकृत) भाषाओं के जिन थोड़े से शब्दों का विवेचन ऊपर किया गया है, उससे हम इस उपपत्ति पर पहुँच सकते हैं कि *प्राचीन भारत में विभिन्न भाषाओं के बीच आदान-प्रदान जारी था।* अनार्य बोलियाँ भी प्रचलित थीं, और उनकी शक्ति दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उसके बाद तक बहुत प्रबल थी ; और भारतीय आर्य-भाषाओं के ब्राह्मण्य, जैन तथा बौद्ध धर्म-सम्बन्धी साहित्य में उनका प्रभाव दृष्टिगोचर है। इस ओर अभी तक विद्वानों का पूरा ध्यान नहीं गया है। अनार्य भाषाओं से अनेक शब्दों और नामों का भारतीय आर्य-भाषाओं में आना जारी था। पीछे जब कि अनार्य भाषाओं का लोप हो गया, तब साथ ही उनके महत्त्व का भी अंत हुआ, सिवा इसके कि कहीं-कहीं भूले-भटके उनका अस्तित्व अब भी मिल जाता है। विदेशी भाषाएँ—ग्रीक, प्राचीन फारसी और अन्य

अनेक ईरानी भाषाएँ—लोग बड़ी संख्या में बोलते थे, और उनका प्रचलन बहुत विस्तृत था। इन भाषाओं से भी भारतीय आर्य-भाषाओं में शब्द लिए जा रहे थे। निस्संदेह ऐसे शब्दों की संख्या तत्कालीन प्रचलित प्रान्तीय भाषाओं में उन शब्दों से कहीं अधिक थी, जिन्हें हम वर्त्तमान परिस्थिति में संस्कृत तथा साहित्यिक प्राकृतों में पा रहे हैं। वास्तव में, प्राचीन भारत में प्रचलित भाषाओं के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है, जैसी इस समय है। केवल उस समय अनार्य-भाषाओं का क्षेत्र आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक था। जैसा कि आर्यावर्त में हम आज पाते हैं, संभवतः प्राचीन काल में भी जनता के अधिकांश भाग में अनार्य-भाषाओं (द्राविड़ तथा ऑस्ट्रिक) का प्रचार आर्य-भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक था। वस्तुतः दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उससे भी पहले भारत में बहुभाषिता का प्रचलन लगभग उतना ही था, जितना कि वर्त्तमान भारत में है।

कविवर तानसेन

संगीतकार तानसेन के नाम से भारतवर्ष के सब लोग परिचित हैं; परन्तु तानसेन केवल एक युगावतार संगीत-रचतिया और गायक ही नहीं थे। वह एक उच्चश्रेणी के कवि थे, यह उनके रचित ध्रुपद गानों की वाणी या शब्दों से पूर्णतया प्रतीत होता है। विभिन्न राग-रागनियों में उन्होंने जो गीत रचे हैं, वे उनकी अतुलनीय कवित्व-शक्ति के परिचायक हैं।

भारत के कलावंतों में प्रचलित संगीत-रीति ने ही इस देश की प्राचीन, अर्थात् मुख्यतः मुसलमान-पूर्व युग की संगीत-पद्धति की शैली की रक्षा की है। भारत के क्लासिकल अर्थात् उच्चकोटि के संगीत के रूप में स्वीकृत होकर, उसके सांस्कृतिक जीवन में इस कलावंत-संगीत ने ही अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। भारतवर्ष का कलावंत-संगीत दो मुख्य विभाग या रूपों में मिलता है—एक हिन्दुस्तानी या उत्तर-भारतीय और दूसरा कर्णाटकी या दक्षिण-भारतीय। बीती हुई कई सदियों के इतिहास में उत्तर भारतीय ढंग के संगीत में तानसेन और दक्षिण-भारतीय चाल के संगीत में त्यागराय (जो कि आन्ध्र या तेलुगू-भाषी थे और श्रीरामचंद्रजी के भक्त थे और जिन्होंने ईसवी सन् १८४७ में देह त्याग किया था)—इन दोनों के नाम सर्व-प्रधान हैं। इन दोनों संगीत-पद्धतियों की जाति एक होते हुए भी हिन्दुस्थानी और कर्णाटकी संगीतों में कुछ पार्थक्य है। साधारणतया लोगों का विचार है कि कर्णाटकी संगीत ही शुद्धतर है; क्योंकि इसमें भारत के बाहर से आये हुए विदेशी मुसलमान अर्थात् ईरानी और तुर्की उपादान प्रवेश नहीं कर सके; पर हिन्दुस्थानी संगीत में ईरान, तुर्किस्तान, ईराक तथा अरब-स्थान से आई हुई वस्तुएँ कुछ-न-कुछ

मिल गई हैं। और इससे इसकी विशुद्धि नष्ट हो गई है। परंतु उत्तर भारत के ध्रुपद संगीत पर बाहर का प्रभाव उतना नहीं आने पाया, यह भी एक रूप से प्रायः सभी ने मान लिया है। प्राचीन हिन्दू संगीत का विशिष्ट रूप या ढंग हमारे ध्रुपद में ही ज्यादातर अविकृत रहा है। तम्बूरा, पखावज और बीन की संगति से गाये हुए ध्रुपद के गीत से, हजार साल के या उससे भी अधिक पुराने काल के हिन्दू गाने का कुछ आभास हमें मिलता है। ख्याल, टप्पा, ठुमरी—ये सब तो बाद वाले युगों की सृष्टि हैं, जो मुसलमान बादशाहों के दरबारों में ध्रुपद ही के आधार पर बनाई गईं। इनमें भारत के विभिन्न प्रान्तों के तथा भारत के बाहर के देशों के संगीत की कुछ विशिष्टताएँ आ गई हैं। केवल विशुद्ध ध्रुपद की सीधी, सरल और विराट् महिमा की तुलना भारतीय-संगीत में और कहीं नहीं मिलेगी, और ऐसी चीज दूसरे देशों के संगीत में भी विरल है।

आजकल जो ध्रुपद हम सुनते हैं, उसकी जड़ हिन्दू-युग तक पहुँचती है, यह तो सच है; पर यह मुख्यतया ईसवी पन्द्रहवीं से सतरहवीं शताब्दी की वस्तु है। भारतवर्ष की आर्य-भाषा में तथा भारत के शिल्प में जिस प्रकार का विकास अथवा क्रम-विवर्तन हमें दीख पड़ता है, उसी प्रकार का विकास भारत के संगीत के इतिहास में भी अपेक्षित है, ऐसा सोचना अनुचित नहीं होगा। पहले आदि आर्य-भाषा या "संस्कृत" फिर उसके विचार से मध्य आर्य या "प्राकृत" उसके बाद, प्राकृत के परिवर्तन से नव्य आर्य या "भाषा"—इस क्रम के अनुसार भारतीय आर्य-भाषा की परिणति हुई है। शिल्प के इतिहास में हम इस प्रकार देखते हैं। बुद्ध के पूर्वकाल के लुप्त भारतीय मिश्र आर्यानार्य शिल्प में प्राचीन भारत के शिल्प की प्रतिष्ठा या स्थापना हुई थी। उस शिल्प ने, मौर्य तथा सुंग-युग के भास्कर्य-शिल्प में, विशिष्ट भारतीय वा हिन्दू-शिल्प के रूप में, ईसा के पूर्व कई सदियों में आत्मप्रकाश किया था। तदनन्तर, कुषाण और आंध्र-युगों

के शिल्प के माध्यम से इस प्राचीन-हिन्दू-शिल्प की धारा प्रवाहित एवं पुष्ट हुई थी और गुप्त सम्राटों के काल के और उनके समय के पीछे की कई सदियों के प्रौढ़ हिन्दू-शिल्प में इसकी चरम उन्नति हुई थी। उसके बाद, परवर्ती युगों के जटिलतामय रूपों में हिन्दू-शिल्प का आंशिक अवनमन हुआ था। संगीत के सम्बन्ध में भी ऐसा क्रम या ऐसी धारा हम अनुमान कर सकते हैं। परन्तु शुद्ध हिन्दू संगीत की इस धारा की अवस्था से, जो कि आज के ध्रुपद में पायी जाती है, प्राचीनतर किसी अवस्था का कोई निदर्शन संरक्षित नहीं हुआ। भारतीय आर्य-भाषा के इतिहास में यदि प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रंश से प्राचीनतर प्राकृत और संस्कृत आदि और कोई निदर्शन नहीं मिलते, तो भारतीय संगीत के इतिहास से उसकी समता दिखाई देती। ध्रुपद को निम्न-मध्य-युग के हिन्दू-शिल्प के साथ हम संतुलित कर सकते हैं; किन्तु ध्रुपद का पूर्व रूप, जिसे हम ऊर्ध्व-मध्य गुप्त और कुषाण-युगों के शिल्प के साथ बराबरी रखनेवाला समझ सकते हैं, विलुप्त हो गया है।

जो कुछ हो, शंकरानंद सरवरिया, रघुनन्दन व्यास, गोपाल नायक, अमीर खुसरो, विवेक स्वामी, सदानंद व्यास, सूरदास, रामदास स्वामी, बैजू बावरा, मुहम्मद गौस, हरिदास स्वामी, तानसेन, सदारंग, शोरी मियाँ इत्यादि संगीतकार और गायकों के हम चिर-कृतज्ञ रहेंगे। क्योंकि प्राचीन भारतीय संगीत के संरक्षण तथा इसके युगानुसारी विवर्तन में इन्होंने बहुत कुछ किया था। बहुत-सी नई-नई वस्तुएँ भी इनके द्वारा आई हैं। कहते हैं कि ख्याल अमीर खुसरो का सर्जन है। स्वयं तानसेन ने भी कुछ प्राचीन रागों के नये रूप दिये हैं, जैसे मल्हार राग का एक नया रूप उनके नाम के अनुसार "मियाँ की मल्हार" नाम से परिचित है, और "दरबारी कानड़ा" नाम का नया राग उन्हीं की सृष्टि है। परन्तु ज्यादातर ये संरक्षक ही थे। यदि इनमें प्राचीन संगीत पर गंभीर अनुराग और प्राचीन रीति को विशुद्ध और

अविकृत रखने का प्रयास न रहता, तो हमारे प्राचीन हिन्दू-युग का या मध्य-युग का संगीत जहाँ तक रक्षित हुआ है, न हो सकता।

इस प्रसंग में यह बताया जा सकता है कि ध्रुपद संगीत प्राचीन का केवल अविमिश्र रूप से संरक्षण या अंध अनुकरण मात्र न था। ऐसा अगर होता, तो ध्रुपद इतने दिनों तक इस प्रकार जीवित न रह सकता। अब तक ऐसे बहुत लोग हैं, जो कि ध्रुपद से आनन्द उठाते हैं और ये लोग सब-के-सब केवल पेशेवर उस्ताद या शिक्षित कलावंत नहीं होते हैं, इनमें बहुत से मामूली संगीत रसिक भी होते हैं। आम तौर पर जनता में "कलावंत गाना" आजकल इतनी दिलचस्पी नहीं ला सकता। यह तो सच है ; पर इसकी चर्चा और इसकी उपयुक्त मर्यादा शिक्षित समाज में घटती तो है नहीं (हम बंगाल की बात कह रहे हैं)। ध्रुपद संगीत में अभी नया सर्जन हो सकता है, होता भी है, उसके उदाहरण-स्वरूप कुछ साल पहले, बंगाल के विष्णुपुर के विख्यात संगीतकार घराने के गायक संगीतरत्नाकर श्री सुरेन्द्रजी वंद्योपाध्याय ने महात्मा गांधीजी के किसी उपवास के उपलक्ष में "राग गाँधी" नाम से जो एक बड़ा सुन्दर सुर बनाया था, उसका उल्लेख किया जा सकता है। यह "राग गाँधी" और उसकी आनुषंगिक ब्रजभाषा में लिखित वाणी, सन् १९३२ के दिसम्बर के "विशालभारत" में छप चुकी है। ऐसी नई रचना के द्वारा और कुछ न हो, सिर्फ इतना तो सिद्ध होता है कि ध्रुपद संगीत एक दम मर नहीं गया। मृत या अप्रचलित कहकर ध्रुपद के आदर या ध्रुपद की चर्चा को मिटा देना—मृतभाषा कहकर संस्कृत, पाली, प्राकृत या ग्रीक-लैटिन का अनादर करना, या इनकी चर्चा को एकदम बंद करना, इन्हें सीमित कर देना होगा।

सौभाग्य से सम्राट् अकबर से तानसेन का संयोग हुआ था, इस कारण तानसेन की जीवनी या इनके कलाकार जीवन की दो-चार बातों के सम्बन्ध में हमें कुछ सूचनाएँ मिलती हैं। अकबर और जहाँगीर के

समय की चित्रावलियों में तानसेन की प्रतिकृति भी खींची गई थी। जहाँगीर के समय में बने हुए तानसेन के चित्र मिलते हैं। ऐसे एक चित्र पर तानसेन की मूर्ति के बग़ल में फारसी अक्षरों में उनका नाम भी लिख दिया गया है। तानसेन कद में छोटे थे। रंग उनका गोरा नहीं था, बिलकुल काला या साँवला था; होंठ पर पतली मूछें भी थीं और एक दूसरे चित्र में तख्त पर बैठे हुए जहाँगीर के सामने तानसेन खड़े हैं। जिस समय जहाँगीर युवराज थे, यह उसी समय का चित्र मालूम होता है। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में तानसेन के गुणों की तारीफ की है। तीसरे चित्र में जहाँगीर के दरबार में गवैयों और बजानेवालों के बीच में खड़े हुए तानसेन मिजराब से सरोद-सा एक यंत्र बजा कर गा रहे हैं। गाने और बजाने में और कई गवैये इनके साथी हैं। इन चित्रों के आलावा खास मुगल-शैली का और भी एक चित्र है, जिसमें अकबर और तानसेन के जीवन की एक घटना दिखाई गई है। संगीत में तानसेन के गुरुओं में एक हरिदास स्वामी थे। आप एक संसार-त्यागी संन्यासी थे और वृन्दावन में रहकर संगीत के द्वारा अपना साधन-भजन करते थे। हरिदास स्वामी की प्रशंसा सुनकर उनका गाना सुनने के लिए अकबर बड़े ही उत्सुक हुए, परन्तु हरिदास स्वामी ने राजधानी में आना नहीं पसन्द किया। तब स्वयं अकबर तानसेन के साथ हरिदास स्वामी के आश्रम पर गये। आश्रम में उपस्थित शाहनशाह के सामने भी हरिदास स्वामी ने गाना अस्वीकार कर दिया। आखिरकार तानसेन ने स्वयं अपने गुरुजी के समक्ष गाना शुरू किया और जानबूझ कर गलत गाया। इससे चेले को दुरुस्त कर देने के ख्याल से हरिदास स्वामी स्वयं गाने लगे। फिर तो उनका गाना चल पड़ा। कहते हैं, हरिदास ऐसे सिद्ध गायक का गाना सुनकर अकबर भावावेश से ऐसे अभिभूत हुए कि कुछ काल के लिए बेहोश हो गये। होश में आकर उन्होंने, तानसेन से पूछा— 'क्यों तानसेन, अपने गुरु की तरह नहीं गा सकते?' तानसेन ने

जवाब दिया–'महाराज, मैं गाता हूँ, तो एक पार्थिव सम्राट् की सभा में; पर मेरे गुरु गाते हैं परमेश्वर के दरबार में।' यह सुन्दर कहानी एक मुग़ल चित्रपट पर चित्रित हुई है। लम्बे कद के गोरे पतले हरिदास स्वामी अपनी कुटिया के सामने मृगचर्म पर बैठे तम्बूरा लेकर गा रहे हैं, कुटिया के दरवाजे के बाजू केले और दूसरे पेड़ों के हरे पत्तों से शीतल छाया वाले दिखाई देते हैं। दुबले-पतले काले रंग के तानसेन जमीन पर बैठे हैं। और बादशाह अकबर खड़े होकर गाना सुन रहे हैं। कुछ दूर पर बादशाह के तम्बू के कनात और ऊँट आदि की सवारी दिखाई पड़ती है, और इससे भी दूर पर दीवार से घेरे हुए एक नगर का दृश्य दिया गया है।

तानसेन की ये तस्वीरें हमें प्राप्त हैं। तानसेन के विषय में कुछ कहानियाँ भी मिली हैं, परन्तु उनकी सच्ची जीवन-कथा हमें आज तक उपलब्ध नहीं हुई। उनके जीवन की बहुत-सी मुख्य बातें बहुत रहस्य-पूर्ण रह गई हैं। अकबर के सभापंडित और दरबारी ऐतिहासिक अबुलफज़ल ने अपनी आईन-इ-अकबरी में अकबर के वेतनभोगी छत्तीस दरबारी गवैयों और मंत्रियों के नाम दिये हैं, उनमें तानसेन का नाम सबसे पहला है। और तानसेन के बारे में अबुलफ़ज़ल ने ऐसा लिखा भी है कि विगत सहस्र वर्षों में उनके समान कोई भी गायक भारतवर्ष में नहीं हुआ। १९३४ वि० सं० (१८७७—१८७८ ईसवी) में राजा शिवसिंह सेंगर ने "शिवसिंह-सरोज" नाम से हिन्दी कवियों की जीवनी के साथ एक कविता-संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने तानसेन के जीवन की कुछ घटनाएँ लिपिबद्ध की थीं। १८८९ सन् में जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने The Modern Vernaculer Literature of Hindustan "दी माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान" नामक जो उपयोगी पुस्तक प्रकाशित की थी, उसमें तानसेन की जीवन-कथा 'शिवसिंह-सरोज' से उद्धृत की थी। शिवसिंह के अनुसार संवत् १५८८ (ईसवी १५३१—

१५६२) में तानसेन का जन्म हुआ था। शिवसिंह ने कुछ प्रमाण नहीं दिया। उनके द्वारा प्रस्तावित यह तारीख संभवतः ठीक नहीं है, क्योंकि इस तारीख को मानने से तानसेन के जीवन की कुछ विदित घटनाओं में असंगति दिखाई देती है। ऐसा हो सकता है कि उनका जन्म लगभग १५२० ईसवी में हुआ हो। अकबर के दरबार में लिखे हुए फारसी इतिहास के अनुसार उनका मृत्युकाल था ९९७ हिजरी, अर्थात् सन् १५८९ ईसवी। तानसेन की मृत्यु अकबर की मृत्यु से पहले ही हुई थी। खुद अकबर के नाम से प्रचलित एक दोहे में इसका उल्लेख मिलता है। कहते हैं कि बीरबल के देहान्त के बाद अपने गंभीर खेद को अकबर ने इस दोहे में प्रकाशित किया था—

पीथल सों मजलिस गई, तानसेन सों राग।
हँसिबो रमिबो बोलिबो, गयौ बीरबल साथ॥

इस दोहे के "पीथल" थे बीकानेर के कुमार पृथ्वीराज राठौड़, जो डिंगल या पुरानी राजस्थानी के विख्यात कवि थे। अकबर के दरबार में बीकानेर की तरफ से कफील या शरीर-बंधक बनकर रहा करते थे और इन्होंने ही चित्तौड़ के महाराना प्रतापसिंह को अपना विख्यात पद्यमय पत्र लिखकर अकबर की अधीनता स्वीकार न करने की सलाह दी थी। जहाँगीर की राज्य-प्राप्ति के बाद उनके दरबार में शामिल रहना, जो एक मुग़ल चित्र से दृष्टिगोचर होता है, संभवतः इन प्रमाणों के सामने, चित्रकार-कल्पना माननी पड़ेगी।

कहते हैं कि तानसेन के पिता का नाम था मकरंद पांडे। आप गौड़ ब्राह्मण थे। तानसेन ने वृन्दावन के हरिदास स्वामी के पास पहले कविता-रचना और संगीत-विद्या सीखी थी। फिर वे ग्वालियर के सूफी साधु मुहम्मद ग़ौस के शागिर्द बने। मुहम्मद ग़ौस एक विख्यात गायक भी थे। आप बाबर, हुमायूँ और अकबर के समकालीन थे, और लोग आप पर बड़ी ही श्रद्धा करते थे। जिस समय

ग्वालियर हिन्दुओं के अधिकार में था और तोमर-वंश के राजपूत राजा वहाँ शासक थे, तब से मुहम्मद ग़ौस ग्वालियर में निवास करते थे। इन सूफ़ी साधक ही की सलाह से बाबर के सेनापति रहीम-दाद मुग़लों की तरफ़ से ग्वालियर को अपने कब्ज़े में ला सके। ऐसा सुनते हैं कि मुहम्मद ग़ौस ने चेले तानसेन को गायन-शक्ति देने के लिए अपनी जीभ से तानसेन की जीभ छुई थी, और इसी करामत से तानसेन को असाधारण संगीत-शक्ति प्राप्त हुई थी। सन् १५६२ में तानसेन अकबर के दरबार में आये, उसके बाद वे मुसलमान हो गये। तानसेन के इसलाम कबूल करने का इतिहास रहस्यमय रहा है। अकबर की प्ररोचना से मुसलमान बनना संभव नहीं था, क्योंकि अकबर इसलाम के सम्बन्ध में सदा के लिए उदासीन थे, और अपने अंतिम जीवन में उन्होंने इसलाम को तो त्याग ही दिया था। तानसेन की रची हुई गीतों के भाव और उनकी भाषा देखकर ऐसा विश्वास करने की प्रवृत्ति नहीं होती कि वे भक्तप्राण हिन्दू के सिवा कुछ और थे। मुसलमानी भाव के कुछ गाने जो कि तानसेन के नाम से संयुक्त हैं—उनमें खास करके इसलाम पर विशेष आग्रह का कोई भी परिचय नहीं मिलता। तो क्या उस्ताद मुहम्मद ग़ौस से प्रभावित होकर तानसेन अपने को मुसलमान तो नहीं कहने लगे थे? ऐसा अनुमित होता है कि मुहम्मद ग़ौस हिन्दुओं के भी बहुत प्रिय हो गये थे। शरीफ और भद्र हिन्दू का सम्मान आप किया करते थे, इसलिए कुछ कट्टर मुसलमान उन पर नाराज़ होते थे, यही इस बात का प्रमाण है। भारत में मुसलमान धर्म के फैलाने में मुसलमान पीर और फकीरों ने बहुत मदद दी थी, कार्रवाइयाँ की थीं, यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। सूफ़ी ढङ्ग के इसलाम ने प्रत्यक्ष और परोक्ष-भाव से, ज्यादातर परोक्ष भाव से, हिन्दुओं में इसलाम प्रचार के काम में सहायता दी थी। फिर यह भी हो सकता है कि अपनी जवानी में तानसेन मुसलमान रईस और राजघरानों के साथ घनिष्ट रूप से बर्ताव करते थे, इसलिए ब्राह्मण की

आचारशीलता से भ्रष्ट हो गये होंगे, और इसी कारण उन्होंने अपनी बिरादरी से अलग रहना भी उचित समझा होगा। कुछ काल के लिए बादशाह शेरशाह के पुत्र दौलतखाँ के विशिष्ट मित्र बनकर तानसेन ने आगरे के दरबार में निवास किया था। इन सब बातों के अलावा यह भी सम्भव है कि मुगलों की ग्वालियर-विजय के बाद तानसेन को बिरादरी के गवैये ब्राह्मण लोग ज़बरदस्ती मुसलमान बनाये गये हों। जाति की जाति को या बिरादरी की बिरादरी को बलात्कार से अपने धर्म से छुड़ाकर मुसलमानी की ओर खींच लेना, भारत के मुसलमान विजय के इतिहास में कुछ नई बात नहीं थी। भारत के कुछ सुप्रतिष्ठित कलाकार जाति के लोग मुसलमान विजय के साथ ही-साथ मुसलमान बनाये गये। जैसे कपड़ा बनानेवाले तंतुवाय जाति के लोग, जो मुसलमान होने के बाद "जुलाहे" कहलाए—बंगाल के चित्रकार जाति के लोग, तमाम उत्तर भारत के ठठेरे, कुम्हार, रंगरेज़, धुनिये, पत्थर के काम करनेवाले, इत्यादि। तानसेन के इसलाम-ग्रहण करने के बारे में और एक बात सोचने की है। अबुल-फज़ल की आईन-इ-अकबरी में जो छत्तीस गवैयों के नाम दिये गये हैं, उनमें पन्द्रह ग्वालियर के हैं, और ग्वालियर के ये उस्ताद गवैये या कलावंत अधिकतया हिन्दू-नामवाले मुसलमान हैं; जैसे खुद "मियाँ तानसेन", और उनके पुत्र "तानतरंग खाँ"; और "श्रीज्ञान खाँ', "मियाँ चाँद", "विचित्र खाँ" (उनके भाई का नाम पूरी तौर से इसलामी था—"सुब्हान् खाँ"—पर यह हिन्दी भी हो सकता है," "सुभान खाँ") "बीरमंडल खाँ" "प्रवीण खाँ", "चाँद खाँ"। इससे हमें संदेह होता है कि ग्वालियर-निवासी बहुत से ब्राह्मण—शायद तानसेन के गवैये घराने के—किसी सूरत से मुसलमान बन गये होंगे या ज़बरदस्ती बनाये गये होंगे, या किसी कारण अपनी ही ओर से मुसलमान-सम्प्रदाय में शामिल होना इनके लिए सहल हुआ होगा। और एक कारण भी सुना जाता है कि

तानसेन ने किसी मुसलमान लड़की से प्रेम के कारण अपने धर्म को त्याग दिया था। इस विषय पर एक असंभव-सी कहानी है। अकबर ने तानसेन को अपने दरबार में रखना चाहा, मगर अपने घमंड में मस्त उस्ताद कलाकार ने इनकार कर दिया; आखिर अकबर ने अपनी एक कन्या से तानसेन का ब्याह कर उन्हें प्रसन्न किया और तब से वे अकबर के दरबार को अलंकृत करने लगे, और शाही दामाद बनने के कारण मजबूर होकर उन्हें मुसलमानी माननी पड़ी। प्रेम के कारण तानसेन ने धर्मान्तर ग्रहण किया, यह इस कहानी के अनुसार कोई असंभव बात नहीं है; पर इसका और कोई भी प्रमाण नहीं है। जो हो, मुहम्मद ग़ौस का प्रभाव तानसेन के ऊपर विशेष हुआ था, ऐसा संभव मालूम पड़ता है। तानसेन की मृत्यु के बाद उनका देह ग्वालियर के विराट् पर्वत-दुर्ग के पादमूल पर मुहम्मद ग़ौस के समाधि-मंदिर के बग़ल में खुले आँगन में समाहित हुआ। तानसेन की पत्थर की यह समाधि अब उत्तर-भारत के कलावंत गवैयों के लिए एक तीर्थ-स्थान बन गई है; इस मज़ार में तानसेन की वफ़ात के दिन बड़ा भारी जलसा होता है। संगीतनायक तानसेन की समाधि के पास इमली के पेड़ हैं। गवैयों में बड़े प्रेम के साथ इन पेड़ों के पत्ते चबाने की प्रथा चली आई है। इससे संगीत-गुरु के आशीर्वाद से आवाज़ मीठी होती है—ऐसा विश्वास लोगों में है।

अपने नवयौवन के पृष्ठपोषक शेरशाह के पुत्र दौलत खाँ की मृत्यु के बाद तानसेन ने मध्यभारत के रीवाँ राज्य के बांधव के राजा रामचाँद बघेले के आश्रय में बहुत वर्ष बिताये। तानसेन के बहुतेरे ध्रुपद गानों में "राजा राम" इस नाम से इनका यशोगान किया गया है। इन्होंने तानसेन का बहुत सम्मान किया था। द्रव्य भी बहुत दिया था। इतने में ही तानसेन की ख्याति चारों ओर फैली, और सूर-वंश के बादशाह ने आगरे में अपने दरबार में उन्हें बुला भेजा; पर तानसेन रीवाँ छोड़कर नहीं आये। थोड़े दिनों के बाद मुग़ल

बादशाह हुमायूँ ने आकर पठान शेरशाह के वंशधरों को हराकर उस राजवंश को ही विनष्ट कर दिया, और सन् १५५६ में फिर मुगलराज की प्रतिष्ठा की। पिता हुमायूँ के देहान्त के बाद अकबर अपने सिंहासन पर कायम हुए, और सन् १५६२ में जलालुद्दीन कुरची नामक एक मनसूबेदार को भेजकर रीवाँ से तानसेन को अपने दरबार में बुला लिया। इस बार तानसेन की आपत्ति नहीं मानी गयी। तानसेन का बाकी जीवन अकबर के दरबार ही में बीता। किसी समय अपने को मुसलमान-धर्मावलंबी स्वीकार करने के सिवा इसके बाद इनके जीवन में उल्लेखयोग्य और किसी घटना का पता नहीं चलता।

तानसेन तो गाने में अद्वितीय थे ही। कलावंत और संगीतकारों में भी तानसेन सम्राट् माने जाते हैं; पर कवि कहिये, तो तानसेन कवित्व शक्ति में भी कुछ कम नहीं थे। जिस समय तानसेन जीवित थे, वह प्राचीन हिन्दी-साहित्य का सबसे गौरवमय युग था—खास करके हिन्दी-काव्य-साहित्य का। उनके समसामयिकों में थे मलिक मुहम्मद जायसी और तुलसीदास; उनसे एक पीढ़ी पहले के थे, अन्ध कवि सूरदास। अकबर के दरबार में एक तरफ थी, राजकीय भाषा फारसी---इसे मुग़ल या मुसलमानी राज की "पोशाकी" या बाहरी भाषा हम कहते हैं; और दूसरी तरफ थी, देशभाषा, राज की भीतरी भाषा, "हिन्दी"। उस हिन्दी के उस समय तीन सुप्रतिष्ठित साहित्यिक-रूप थे। पूरब में अवधी या कोसली, बीच में ब्रजभाषा, और राजस्थान में डिंगल। दिल्ली की खड़ीबोली की कोई साहित्यिक प्रतिष्ठा अब तक नहीं हुई थी, पर खड़ीबोली से पंजाबी की मेलजोल बहुत थी। यह दिल्ली के आसपास मेरठ, रोहिल-खंड, हरियाना, कर्नाल, अम्बाला प्रान्त में जनपद-बोली के रूप में बोली जाती थी। कबीर जैसे संत और साधुओं के हाथ बननेवाले समग्र उत्तर-भारत के नये लोक-साहित्य में इस खड़ीबोली के रूप कुछ-कुछ दिखाई देते थे। अकबर की राजधानी आगरा और दिल्ली—खास करके आगरा—

ब्रजभाषा के इलाके में शामिल थी, इस कारण उनकी सभा में ब्रज-भाषा-हिन्दी ही को पूरा स्थान मिला था। इसमें खुद बादशाह से शुरू कर सब काव्य-रसिक दरबारी सज्जन कविता करते थे। अकबर और अकबर के बाद मुग़लों की कई पीढ़ियों तक—ईसवी अठारहवीं शती के द्वितीयार्ध तक—भारत के मुसलमान सम्राटों के लिए भारतीय भाषाओं में सिर्फ़ ब्रजभाषा ही घरेलू भाषा थी। जैसे इंगलैंड के नारमन-फ्रेंच बोलनेवाले राजघरानों की देश-भाषा अंग्रेज़ी को अपनाने के साथ-ही साथ, अंग्रेजी के लिए एक नया विरुद व्यवहृत होने लगा। अंग्रेज़ी केवल नारमनों से विजित अंग्रेज़ प्रजा की भाषा न रही, वरन् यह शाही जबान The King's English "द किंग्स् इंग्लिश" बन गई, वैसे ही ब्रजाभाषा-हिन्दी लगभग १०५० ईसवी से कम-से-कम १७५० ईसवी तक "बादशाही हिन्दी'" के रूप में व्यवहृत होती रही। बादशाह अकबर स्वयं ब्रजभाषा में पद रचते थे; इनका नाम "अकब्बर" या "अकब्बर साहि" रूप में कुछ हिन्दी या ब्रजभाषा के पदों में मिला है, और ऐसे पद (दोहा, कवित्त) भी हैं जो अकबर के लिखे हुए माने जाते हैं। अकबर के सभासदों में राजा बीरबल, मिर्ज़ा अब्दुर्रहीम खान-खानाँ और बीकानेर के राजकुमार पृथ्वीराज राठौड़ हिन्दी (ब्रजभाषा और राजस्थानी) साहित्य के उच्चकोटि के कवि गिने जाते हैं।

गायक के रूप में अतुलनीय यश के अधिकारी होने के कारण, कवि के रूप में तानसेन का यशोभाग्य जितना होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ। संगीतज्ञ कलावंत तानसेन के अन्तराल में जैसे कवि और साधक तानसेन ढक गये हों। ऐसा होने का एक मुख्य कारण यह था कि तानसेन केवल कवि न थे—कविता की रचना इनका एक मात्र काम न था। दरबार, मजलिस या सभा में सुर लय के साथ पाठकर सभासदों की तारीफ या रसिकों के साधुवाद और

राजा बादशाह प्रभृति भाग्यवानों से आर्थिक पृष्ठपोषकता प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े काव्य या छोटी-छोटी कविताओं की रचना करना तानसेन का पेशा न था। Lyric poet "लिरिक पोयेट" यानी गीति-कविताकार और साथ-ही-साथ गवैये—इसके सिवा तानसेन और कुछ नहीं थे। वह स्वयं गीत की वाणी या शब्द लिखते थे, और सुर-बद्ध करके स्वयं गाते थे। श्रोताओं के समक्ष संगीतरस ही इन गीतों का प्रधान आकर्षण था। कवि और साहित्यिकों की मजलिसों से कलावंत गवैयों के जलसों में इन गीतों का प्रचलन अधिक था। पर ये गवैये ज्यादातर थे सुर और तान के वैयाकरण; फलतः काव्य-रस उनके सामने गौण वस्तु था। इससे जान पड़ता है कि काव्य-सरस्वती अरसिकों के हाथों में पड़कर दुर्दशापन्न हुई। जो सचमुच कवि थे, ऐसे सहृदय जनों के चित्त को तानसेन के गीतों के काव्य-सौन्दर्य से आकृष्ट होने का अवसर नहीं मिला। तानसेन के सदृश जो साथ-ही-साथ गायक और कवि थे, ऐसे बहुतेरे कवियों की दशा ऐसी ही हुई थी। तानसेन के समय के कवि और गायक बाबा रामदास और उनके पुत्र सूरदास (ये अंध कवि सूरदास से अलग व्यक्ति थे) और उनके पूर्व के और पश्चात् काल के समस्त कवियों और गायकों के सम्बन्ध में यह बात ठीक है।

प्रधानतया कवि के रूप में ख्याति या स्वीकृति न होने के कारण, अपने कवित्व-सौन्दर्य के कारण तानसेन के गीतों का प्रचार बाहर जितना होना उचित था, उतना नहीं हो पाया। साहित्य-रसिक लोग और पुस्तक-अनुलेखक या नकल-नवीस, कबीर, सूरदास, तुलसी, बिहारीलाल, भूषण, मतिराम इत्यादि कवियों में उलझे रहे, इनके काव्यों की चर्चा में मस्त रहे। आध्यात्मिक भाव के गीत बनाने से भी तानसेन को कोई धार्मिक मर्यादा न मिली, जैसे कबीर, नानक, दादू आदि को। गवैया-सम्प्रदाय के बाहर दूसरे लोगों ने इधर कुछ सोच-विचार न किया। बाहर के लोग सिर्फ गवैये या उस्ताद तान-

सेन को पहचानते थे। केवल गायक तानसेन का सम्मान करते थे। पेशेवर या व्यवसायी कलावंत लोगों ने भी अपने गुरु तानसेन के गानों को अपने सम्प्रदाय ही में सीमित रखा। इसमें इनका कोई भी अपराध नहीं था। जहाँ तक मुझे पता चला है, काव्य के विचार से किसी ने कभी तानसेन के गीतों का संग्रह प्रकाशित नहीं किया;[1] परन्तु उत्तर-भारत के कलावंत संगीत की जिसी किसी पुस्तक को देखिये, तानसेन के दो-चार गाने अवश्य ही मिलेंगे।

तानसेन के अनुरागियों के लिए यह तो एक अच्छी बात है कि फारसी, हिन्दी, बंगला, मराठी भाषाओं के मध्ययुग के साहित्य के नियम के अनुसार अन्यान्य कवियों की भाँति तानसेन भी अपने गानों में अपना नाम जोड़ दिया करते थे। कवि के द्वारा अपनी रचना के अंत में अपना नाम देने की रीति को बंगला में "भणिता देना" कहा जाता है। अरब और ईरानी और इनकी देखा देखी तुर्की और उर्दू कवियों में अपनी कविता के अंत में "तखल्लुस" बताना दूसरी चीज है। ऐसी भणिताओं के सहारे तानसेन के गानों के संग्रह का श्रीगणेश किया जा सकता है, परन्तु ऐसा हो सकता है कि बाज कवियों के गीतों में भ्रमवश तानसेन की "भणिता" या छाप आ गई हो और तानसेन के अपने गीतों की भणिता के स्थान पर दूसरे कवि की भणिता आ बैठी हो। इन सब बातों का विचार कर, तानसेन के गानों की वाणी की एक संग्रह-पुस्तक निकालना हिन्दी तथा भारतीय साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण काम होगा। संग्रह मुख्यतया काव्य की दृष्टि से करना चाहिए। तानसेन द्वारा रचित छपे हुए पद यथेष्ट मिलेंगे। इनके आधार पर इस काम का प्रारम्भ हो सकता है। सन् १८४३ ईसवी में कलकत्ते में मुद्रित और

१ कवि तानसेन और उनका काव्य : साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद से अब प्रकाशित हो चुका है।

वहीं से प्रकाशित कृष्णानन्द व्यासदेव के बृहत् संगीत-संग्रह-ग्रंथ "संगीत-राग-कल्पद्रुम" में तानसेन की भणिता के अनेक पद मुद्रित हैं। इस महाग्रंथ का द्वितीय संस्करण सन् १९१४—१९१६ में मुर्शिदाबाद लाल-गोला के राजाबहादुर स्वर्गीय योगेन्द्रनारायण राय के अर्थव्यय से बंगीय-साहित्य-परिषद् द्वारा प्रकाशित हुआ। सन् १८८५ ईसवी से कृष्णधन वन्द्योपाध्याय के रचित "गीत-सूत्र सार" से शुरू कर बंगला, हिन्दी, मराठी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं में संगीत के विषय में जितनी पुस्तकें निकली हैं, प्राय: उन सबों में तानसेन के गाने दिये गये हैं। इसके अलावा जो "खानदानी" कलावंत होते हैं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो कलावंत की वृत्ति का पालन कर रहे हैं, उनके कंठ में और उनके घर की दस्ती किताबों में तानसेन के अप्रकाशित गाने मिलेंगे। पश्चिम-बंगाल के पुराने शहर विष्णुपुर के विख्यात खानदानी संगीतज्ञ, आधुनिक भारत के अन्यतम प्रमुख ध्रुपदी संगीत नायक संगीताचार्य श्री गोपेश्वरजी वन्द्योपाध्याय हैं। तानसेन के वंशजों में से एक गवैया बहादुर सेन या बहादुर खाँ सन् १७१० में बंगाल के विष्णुपुर में आये थे, आप उन्हीं की शिष्य-परंपरा के अन्तर्गत हैं। इनके द्वारा लिखी हुई संगीत-सम्बन्धी बंगला पुस्तकों में तानसेन के गाने स्वरलिपि के साथ दिये गये हैं। इस प्रसंग में कई साल हुए कलकत्ते से प्रकाशित—इस समय दुष्प्राप्य—"ध्रुपद भजनावली" नाम की बंगला अक्षर में छपी हुई एक पुस्तक का उल्लेख होना चाहिए। उत्तर-बंगाल के रङ्गपुर के वकील बाबू रामलाल मैत्र ने अपने सङ्गीत-शिक्षक, बनारस से बङ्गाल में आये हुए शिवनारायण मिश्र से बहुत ध्रुपद गाने सीखे थे। शिवनारायण मिश्र काशी के एक विख्यात ध्रुपदी नायक बख्त्यारसिंह के, जो कि तानसेन के घरानों के कहलाते थे, शिष्य थे। "अमृत बाजार पत्रिका" के अन्यतम संस्थापक स्वर्गवासी शिशिरकुमारजी घोष के आग्रह से, रामलाल बाबू ने "ध्रुपद भजनवाली" में शिवनारायण मिश्र से प्राप्त

हुए ३७१ ध्रुपद गानों की वाणी प्रकाशित की थी, जिनमें १८० से अधिक तानसेन के हैं। बंगला लिपि में हिन्दी या ब्रजभाषा से अनभिज्ञ बङ्गाली नकलकार तथा मुद्रक के हाथों से मूल वाणी की जो दुर्दशा हुई है, वह अवर्णनीय है; तो भी यह पुस्तक तानसेन के सम्बन्ध में विशेष मूल्यवान् है।

प्राचीन काल के अन्यान्य मुख्य हिन्दी-कविओं की भाँति तानसेन ने भी ब्रजभाषा का उपयोग किया था। ब्रजभाषा मुख्यतः ब्रजमंडल अर्थात् मथुरा के आस-पास के प्रान्तों की कथित भाषा या बोली है। बङ्गाल के वैष्णव पदों में बङ्गला और मैथिल के मिश्रण से "ब्रजबोली" नाम की जो कृत्रिम साहित्यिक भाषा मिलती है, वह मथुरा और वृन्दावन की ब्रजभाषा से बिलकुल दूसरी चीज है। ब्रजभाषा में एक लक्षणीय साहित्य है। यह भाषा बहुतेरे कवि और गद्य लेखकों की कृति से भरपूर है। उत्तर-भारत की आधुनिक नव्य-आर्य भाषाओं में, अपने श्रुति-माधुर्य तथा गांभीर्य के कारण ब्रजभाषा का सौन्दर्य और उसकी शक्ति अतुलनीय है। गीति-कविता के लिए यह भाषा विशेषतया उपयोगी है। हम ऊपर कह चुके हैं कि तानसेन के समय में दिल्ली-मेरठ की खड़ीबोली साहित्यिक-भाषा नहीं बनी थी। हिन्दुस्तान की भाषाओं में केवल ब्रज, कोसली और डिंगल भाषाएँ साहित्यिक मानी जाती थीं। तानसेन की ब्रजभाषा मध्ययुग की ब्रजभाषा है। उस समय भारत की आर्य-बोलिओं में स्वरध्वनि की बहुलता थी; पुरानी ब्रजभाषा भी इस स्वर-बहुलता के कारण (इसके सब शब्द स्वरांत होते थे) विशेषतया श्रुति-मधुर भाषा है। गानों के लिए तो इसका खास गुण है। गानों में जब लायी जाती है तब ब्रजभाषा के उच्चारण के कुछ विशेष ढंग कहीं-कहीं आ जाते हैं। ये विशिष्ट ढंग कम-से-कम गाने की कुछ शैली में सुन पड़ते हैं। एक विशेषता तो यही है कि अनुनासिक वर्णों के बाद उस अनुनासिक वर्ण के अपने वर्ग के स्पर्श वर्ण (वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ)

आने से, इस अनुनासिक-संयुक्त वर्ण के पूर्व के अक्षर में अ-कार रहने से, वह अ-कार औ-कार-सा उच्चारित होता है। जैसे " पंकज, संख, गंगा, अंग्नि, पंच, अंजन, झंझ, कंठ, मंडल, अंत, पंथ, चंद, सुगंध, कंप, अंब, अंभ " इत्यादि शब्द " पौंकज, सौंख, गौंग, औंग्नि, पौंच, औंजन, झौंझ, कौंठ, मौंडल, औंत, पौंथ, चौंद, सुगौंध, कौंप, औंब, औंभ, " सुन पड़ते हैं। गाने के समय इससे सानुनासिक संयुक्त वर्णों में कुछ विशेष श्रुति-माधुर्य आ जाता है। इसके बाद, शब्दों के अन्त में अ-कार रहने से वह अ-कार कभी-कभी अर्धोच्चारित उ-कार-सा हो जाता है।

तानसेन के पदों की तथा समकालीन दूसरे अनुरूप हिन्दी कवियों की भाषा का एक लक्षणीय वैशिष्ट्य यह है—भाषा का संक्षेप, या संकेतमय रूप में भाषा का प्रयोग। व्याकरण के अनुसार शब्द तथा धातुओं के साथ सुप् और तिङ् प्रत्यय जोड़कर वाक्य-स्थित " पद " बनाये जाते हैं ; पर मध्य-युग की हिन्दी-कविता में मानों प्रत्ययों का यथासंभव बहिष्कार किया जाता था। जहाँ अनुसर्ग और प्रत्यय न रहने से अर्थग्रहण होना कठिन होता है, सिर्फ वैसे ही स्थानों में इनका पूरा प्रयोग होता है, अन्यथा नहीं। नाम-पदों के प्रातिपदिक रूप और धातु का एक अकारान्त रूप—इन्हीं से जहाँ तक हो सके, काम लिया जाता है। वाक्यों में ये अधिकतया मिलते भी हैं। केवल एक के बाद दूसरे बिठाये गये मूल शब्द, या समस्त-पद, या धातु—ये सब पृथक् अवस्थित विभक्ति-प्रत्यय बिरल शब्द, भरकम होते हैं; इनके द्वारा कुछ खास शक्ति का प्रकाश आ जाता है। भाषा में एक प्रकार की वाचंयमता के साथ जमावट आती है। तानसेन के गानों में अकसर ऐसे शुद्ध भरकम शब्दों का प्रयोग होता है, इन शब्दों को केवल सुनने से ही हमारे चित्तपट में चित्र के बाद चित्र अंकित हो जाते हैं।

तानसेन के पद ध्रुपद गाने के अस्थायी, अन्तरा, संचारी और

आभोग—इन चार अंशों का आश्रय लेकर चार खंडों में विभक्त होते हैं। पदों के छंद साधारणतया दीर्घ होते हैं। चार छत्रों के बड़े-बड़े हिन्दी छन्द तानसेन के पदों में मिलते हैं; फिर चार छत्रों में विभाजित गद्य भी मिलता है।

विशेष करके ध्रुपद गाने के लिए ये सब पद या गीत रचे हुए हैं। तानसेन की काव्य-सरस्वती की स्वच्छन्द और सावलील स्फूर्ति के लिए यह एक कठिन अंतराय के रूप में खड़ा है। इधर पद का बाह्य रूप शृङ्खलाबद्ध है, उधर विषय-वस्तु भी सुनिर्धारित है। ध्रुपद गीत के विषय केवल ये ही हो सकते हैं—परब्रह्म या परब्रह्म के ध्यान ग्राह्य स्वरूप शिव, देवी, विष्णु, राम, कृष्ण, सूर्य, गणेश इत्यादि हिन्दू पौराणिक देवताओं का महिमाकीर्तन, उनके रूप और उनकी लीलाओं का वर्णन ; प्रकृति-वर्णन, विशेषता, विभिन्न ऋतुओं का वर्णन-संगीत का महिमाकीर्तन; राधा-कृष्ण अथवा साधारण नायक-नायिका का विरह-मिलन ; विरह, अभिसार आदि अवस्था में प्रेम-वर्णन ; एवं राजाओं के महत्त्व या गौरव का वर्णन। तानसेन और और दूसरे कवि के मुसलमानी मजहब के मुताबिक ध्रुपद के कुछ पद मिले हैं ; इनमें अल्लाह की स्तुति और गुण-वर्णना और नबी मुहम्मद और मुसलमान पीर या साधकों के गुण वर्णन—ये सब पाये जाते हैं। ध्रुपद गाने में व्यवहृत शब्द प्रायः सब-के-सब पुरानी हिन्दी और संस्कृत के होते हैं। तानसेन के समय अरबी-फारसी शब्दों से लदी हुई उर्दू का उद्‌भव नहीं हुआ था ; पर कुछ मुसलमानी मत के पोषक पदों में उस मत के प्रकाशक कुछ-कुछ अरबी-फारसी नाम और अन्य शब्द प्रयुक्त होते थे।

यह मानना पड़ेगा कि ध्रुपद-रीति के पदों में कवि की कवित्व-शक्ति के पूर्ण प्रकाश के लिए कुछ लक्षणीय बाधाएँ थीं। तो भी तानसेन एक प्रथम श्रेणी के प्रतिभावान् कवि थे, यह बात बंधनों के बीच उनकी वाणी के सौन्दर्य से प्रमाणित होती है। ध्रुपद में किसी

एक प्रकार का धीरोदात्त और स्निग्ध-गम्भीर भाव विद्यमान है ; इसकी गठन-शैली होती है, विराट् वास्तु-शिल्प की-सी परस्पर-ग्रथित और सुसम्बद्ध । इस वास्तुशिल्पानुरूप गुण के कारण तानसेन के ध्रुपद गीतों में एक कोटि की महिमा, एवं एक शुद्ध-संयत भाव आ जाता है, जो कि उनकी रचना-शैली की उदारता, उसके आभिजात्य एवं उनके शब्द-चयन की शक्ति से और भीर भी पुष्ट, और भी समृद्ध, और भी उद्भासित हो उठते हैं। देवताओं की स्तुति में या इनकी महिमा के कीर्तन में विशेषण और नाम-शब्दों का प्रयोग तानसेन ने अपने पदों में किया है; ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कोई आदिम या मौलिक महत्त्व और विशालत्व भरा हुआ है। दृष्टांत के रूप में परब्रह्म, शिव या विष्णु विषयक कुछ पदों का उल्लेख किया जा सकता है । पंछियों के गाने और दक्षिणी पवन के साथ वसन्त ऋतु का आनन्दमय रूप पूरबी बयार, बादलों की घटा, बिजली की चमक, मेघगर्जन और वारि-पात के चित्र, मोहक स्निग्ध ध्वनि के साथ वर्षा ऋतु विश्वप्रकृति को ज्योति से उद्भाषित कर उषःकाल में सूर्योदय, शिव की पूजा में उमा, हिमालय की गोदी में ध्यान-मग्न योगेश्वर धूर्जटी महादेव देवी-श्री के साथ महासागर पर अनन्तशायी महाविष्णु, राधा और कृष्ण की शाश्वत अनैसर्गिक प्रेमलीला—भारतीय काव्य-साहित्य में महिमा-मय तथा माधुर्यमय जो भी कुछ हो,

was reizt und entzueht,
was saettigt und naehrt

उन सबों से तानसेन के पद मानों भरपूर हैं। प्राचीन और मध्य-युग के हिन्दू-काव्य, ज्ञान, योग और भक्ति का मानों मंथन करके जो नवनीत निकला, वह तानसेन के पदों के स्वर्ण कटोरे में धर दिया गया है। ध्रुपद की वाणी तथा अन्य कवियों के नायक-नायिका और राग-रागिनी की वर्णना के पद—इनमें प्राचीन राजपूत और मुगल-शैली के चित्रों की कवितामय व्याख्या या टीका पायी जाती है। ये

दो वस्तुएँ भारत के काव्योद्यान के दो अनिन्द्य सुन्दर सौरभमय पुष्प हैं। ऋग्वेद के ऋषियों के समय से शुरू कर भारत की प्राचीन तथा मध्ययुग की कवि-परम्परा के बीच तानसेन का आसन सुतरां गौरव मय है।

तानसेन राजसभा के कवि थे। जगत् के इतिहास में श्रेष्ठ महा-मानव-सम जो राजा थे, उनमें से अन्यतम सम्राट् अकबर के उपयुक्त सभासद् और सभागायक थे। राजसभा के कवि और गुणी होते हुए भी, तानसेन की काव्य-वस्तु देश के जन-साधारण या जनता की अनुभूति के बाहर की नहीं थी। राजा की सभा में बैठकर उन्होंने जो पद बनाये, जो गीत गाये, उनसे पण्डित और अभिजातजन, वणिक और योद्धा, दीन ग्रामीण कृषक और शिल्पी, सब श्रेणी के मानवों के अंतरतम व्यक्तित्व का संयोग था।

"आविर् अकृत प्रियाणि"

जो कुछ हमारे प्रिय हैं, जो हमें सुहाते हैं, उन्हें सर्वजन समक्ष उन्होंने प्रकाशित कर दिया है। नयी तौर से उन्हें आविष्कृत कर दिया, अपने काव्य और संगीत की आलोक-धारा से उन्हें परिस्फुट कर दिया है। तानसेन की कविता ने भारत के जातीय-चित्त से रस पीकर अपने रूप को विकसित कर दिखाया है।

तानसेन के नाम से संयुक्त जो पद या कविता मिलती हैं, वे खंडाकार में, विक्षिप्त रूप से ही मिलती हैं; परम्परागत या क्रम-विकास के अनुसार उनकी सजावट अब असम्भव-सी दीखती है। रामलाल मैत्र महाशय द्वारा संकलित "ध्रुपद-भजनावली" पुस्तक की भूमिका में कहा गया है कि तानसेन का व्यक्ति-जीवन तीन पर्याय या विभाग में विभक्त किया जा सकता है। पहला विभाग यौवन का है। इस समय इन्होंने अपने मित्र और पोषक राजाओं के गुणगान किये हैं और ऋतु प्रभृति प्राकृतिक-वस्तु के वर्णन ज्यादातर किये हैं। दूसरा विभाग प्रौढ़काल का है। इस अवस्था में आप देवताओं की लीला

और महिमा गाते थे। इस श्रेणी के पदों में ऐश्वर्य-बोध तथा अन्तर्दृष्टि दोनों ही मिलती हैं; पर गम्भीर आत्मानुभूति नहीं दीख पड़ती। तीसरे विभाग में अपने परिणत वय और वार्धक्य की कविताओं में तानसेन राधाकृष्ण-लीला का वर्णन कर गये हैं। राधाकृष्ण-विषयक पद वस्तुतः भाव-गांभीर्य तथा भक्ति के गम्भीरत्व में अतुलनीय हैं। परन्तु ऐसा पर्याय-विभाग पूर्णतः समालोचक की Subjective अर्थात् आत्मनिष्ठ यानि अपनी ओर से की हुई वस्तु है; तानसेन के पदों में ऐसे किसी ऐतिहासिक क्रम का निरूपण करना अब असंभव है।

सरल और अकपट विश्वास और प्रीति के कारण तानसेन के विनय अर्थात् प्रार्थनात्मक-पद अपने ढङ्ग के अतुलनीय हैं। उनके धार्मिक पदों में हमें एक तात्त्विक, मर्मज्ञ और भक्त व्यक्ति से साक्षात्कार होता है। अपनी जातीय-संस्कृति की मुख्य वस्तु और सिद्धान्तों से सुपरिचित और उनके सम्बन्ध में श्रद्धावान् और आस्थाशील एक यथार्थ ब्राह्मण का भी परिचय तानसेन के पदों से होता है। शिव, पार्वती, विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती, सूर्य, गणेश प्रभृति महनीय और विराट् कल्पना की अन्तर्निहित गम्भीर चिन्ता, ज्ञान और उपलब्धि, कविदृष्टि और सौन्दर्यबोध—इन सबों में भी उनके दर्शन से छिप नहीं सका। वेद और उपनिषद् में, रामायण, महाभारत, पुराण और तंत्र और मध्य-युग के साधु और संतों के भक्तिवाद, इन सबों में जो ज्ञान जो सत्यसृष्टि, जो प्राण और जो रसदृष्टि है, तानसेन उन सबों के उत्तराधिकारी हैं। तानसेन के ध्रुपद सुनने से सुननेवाले के मन में प्रार्थना और आत्मनिवेदन के दिव्यभाव की जागृति होती है, यह भी देखा गया है।

किसी देवमन्दिर में देवविग्रह के समक्ष, अथवा मित्रगोष्ठी में या रसिक-समाज में, ज्योत्सना-विधूत रात्रि में सौध-शीर्ष पर, अथवा उद्यान के चबूतरे पर, नक्षत्रखचित रजनी में, नदी या किसी विराट् जलाशय की तीर-भूमि पर, या किसी आश्रम या कुंजवन में बैठकर सुनना, ध्रुपद

गाने के लिए सबसे उपयोगी पारिपार्श्विक होते हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी में, अच्छोद सरोवर के तीर शिवालय में विरहिणी कुमारी महाश्वेता की वीणा के साथ गान करने का अति मनोहर चित्र वर्णित है। महाश्वेता के कंठ से शिव की महिमा वीणा-वादन के साथ जिस संगीत-रीति से गीत हुई थी, वह इस समय से सहस्र वर्ष पूर्व के ध्रुपद संगीत के सिवा और क्या हो सकता है ? दुष्यंत की रानी हंसपदिका ने अपने 'सकृत्कृतप्रणय' पति के चित्त में प्रणय के पुनराविर्भाव की आशा से वीणा बजाती हुई जो 'कलविशुद्धा' 'रागपरिवाहिनी' 'गीति' का गान किया था, वह भी ध्रुपद के किसी कोमल राग के प्राचीन रूप का प्रकाश रहा होगा। वैसे 'मेघदूत' की विरहिणी यक्ष-पत्नी वेदनातुर हृदय से वीणा बजाने की चेष्टा करती हुई निर्वासित पति के स्मरण में जो पद गाती थी, गाने के बीच में अपनी रची हुई मूर्छना को भूल जाती थी, वह पद कालिदास के समय के ध्रुपद के सिवा और क्या रहा होगा ? ईश्वर की जो स्तुति निसर्ग की सुन्दर वस्तु और सुश्राव्य ध्वनिनिचय द्वारा प्रतिदिन ध्वनित हो रही है, हिमालय की अरण्य-संकुल उपत्यकाओं में शुषिर वंश दंडों के मध्य से प्रवाहित होकर वायु जिस वंशी-निःस्वान को मुखरित कर जाता है, पर्वत की गुहाओं में प्रतिध्वनि जगाकर मेघों के गुरु गर्जन से जो मृदंग मंद्रित हो रहा है, अदृश्य किन्नरियों की कंठध्वनि से सम्मिलित होकर प्रकृति के उस शिवमहिम्नस्त्रोत्र का गान, मानों इस ध्रुपद-संगीत में ही कदाचित् प्रकाशित होता है। और राधा के लिए युग-युगान्त से श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि, श्रीकृष्ण के लिए राधा की शाश्वत अभिसार-यात्रा, इन सबका भी आभास ध्रुपद में ही प्रतिध्वनित होता है।

रोमन-कैथोलिक धर्म की सबसे मनोहर और गांभीर्यपूर्ण पूजा-पद्धति देखने के अवसर मुझे मिले हैं। अपने हिन्दू-धर्म की अपूर्व श्री-शोभा-मंडित बहु पूजा-पाठ और यज्ञादि अनुष्ठान मैं देख चुका हूँ। नाना प्रकार की पाठ-पद्धति श्रद्धा के साथ मैंने सुनी है—काशी

में, पुरी में, दक्षिण के तमिलदेश के तीर्थों में, अन्य क्षेत्रों में। साधारणत: इन सब पूजा-पाठ के आभ्यन्तर-सौन्दर्य और महत्त्व ने मुझे मुग्ध किया है; परन्तु विशेष करके मेरे मन में उदित हो रही है, उदयपुर राज्य में एकलिंगजी के मन्दिर के एक दिन की भोर की पूजा की स्मृति। गैरिक वसन पहने हुए, गले में और हाथों में रुद्राक्ष की माला लगाये हुए, तेजःपुंज-कलेवर, गौरवर्ण दीर्घकाय श्मश्रुमान् एक संन्यासी पुजारी, अति सुन्दर शुद्ध उच्चारण के साथ मंत्र पढ़कर भगवान् की पूजा कर रहे थे। बीच-बीच में पूजा के बीच में गर्भगृह के द्वार बंद किये जाते थे। इधर अलंकरण-मंडित प्रस्तरमय देवमूर्ति के सामने के नाट्य-मन्दिर में एक कलावंत गायक पखावज और सारंगी बजैये के साथ बैठे थे। पूजा के लिए जब देवगृह के दरवाजे बन्द होते थे, तब वे शंकर की स्तुति के लिए एक ध्रुपद चौताल गाने में लग जाते थे। कुल मिलकर पूजा का जो अपूर्व वातावरण बना, भाषा में उसका क्या वर्णन करूँ। पूजा समाप्त होते समय पुजारी के शेषमंत्रों में एक की ध्वनि ने मानों समग्र अनुष्ठान के सम्बन्ध में अन्तिम वचन सुना दिया। इस मंत्र के श्लोकों का सम्पूर्ण रूप से स्मरण मैं रख नहीं सका; परन्तु एक श्लोक का अंश कुछ ऐसा था—

" शिवे भक्तिः शिवे भक्तिर्भक्तिर्भवतु मे सदा। "

तानसेन के ध्रुपद की कविता के एकमात्र उपयोगी चित्रमय प्रकाश हम राजपूत और मुगल-चित्र में देख पाते हैं। ये सब चित्र और तानसेन की कविता, ये दोनों परस्पर की पूर्ति करनेवाले हैं। ध्रुपद गानों के लायक पारिपार्श्विक या दृश्यों से ऐसे चित्र परिपूर्ण होते हैं। राजपूत शैली के रागमाला चित्रों को " दृश्यमान संगीत " आख्या दी गई है, और यह आख्या सार्थक है। पर्वतराजकुमारी उमा अकेली या सखी सहित अरण्यमय गिरिपार्श्वदेश में गंभीर निशीथ में शिवपूजा कर रही हैं। संगीतकार, वादक और योगी मिलकर नदी-तट पर किसी आश्रम में बैठे वार्तालाप कर रहे हैं।

शरत्काल के प्रभात रौद्र में अचिरस्नाता कुमारी चित्रित हैं। इस प्रकार अनेक चित्र ध्रुपद गानों को सुन्दर रूप से प्रकाशित करते हैं।

तानसेन के कुछ पद उद्धृत करके मैं इस निबंध का उपसंहार करूँगा। अधिकतया ये पद बंगाल के गवैयों में प्रचलित पाठों से उद्धृत किये गये हैं। पाठ में कुछ भूल-भ्रान्ति रह सकती है, विशेषज्ञ पाठकगण कृपा कर संशोधन कर लें। उषा-सम्पर्कित पदों में वैदिक उषा विषयक सूक्तों की प्रतिध्वनि पायी जाती है। इन कविताओं से अनुभवी पाठक तानसेन के कवित्व माधुर्य का आस्वाद कर सकेंगे।

[१] सूर्योदय। राग ललित भैरव। ताल चौताल ॥

हेम-किरीटिनी उषा देवी कनक-बरनी सविता-गेहिनी उदत मधुर हास जग हँसायौ ॥

सिन्धु-बारि उदत भानु, बिमल सोह ऐसे मानौं दिसा-नारी कनक-गागरी पानी भरि भरि मङ्गल अस्नान करायौ ॥

विहग मधुर ललित तान गावै-भुवन नब जीवन आनँद-मगन सब जग-जन मङ्गल-गीत गायौ ॥

आई उषा कवँल-नेत्री, गायत्री, जगधात्री लै कै अरुन-किरन-मअन तानसेन-मानस-तामस दूर कियौ ॥

[२] शिव। राग भैरव। ताल धीमा तिताल ॥

महादेव महाकाल धूरजटी तिसूली पञ्चवदन प्रसन्न-नेत्र।

परमेश्वर परात्पर महा-जोगी महेश्वर परम-पुरुष प्रेममय परा सान्ति-दाता।

सरिता-गन भिन्न भिन्न पन्थ जैसे आवत, सिन्धुवा पाई रहत मगन—

तानसेन कहै—तैसे भगत भिन्न भिन्न मूरति उपासत एक ही ब्रह्म आवत ॥

[३] सूर्योदय। रागिनी ललित। ताल चौताल ॥

गगन-मंडल-मध्य उदयाचल पर अष्ट-बाजी कनक-रथ में अरुन

सारथि होत, प्रिया उषा सबै बरन-बरन रङ्गी बसन पहिरि भानु उदत ॥

गगनाङ्गन अँधार-धूरिया किरन-मञ्जन दूर किया ; हुल्लास प्रकृति हँसत अमिश्रा, विचित्र भूषन मोहन साजत ॥

कानन-कुन्तल नीहार-बूँदन जड़ित, मुकुता-माल मानौं, सिन्धु निचोल, अचल मेखला, नितम्ब धरन बिसाल ॥

बालार्क सिन्दूर-बूंद भाल, ग्रह-उड़-सप्तऋषि-मण्डल सोहत; प्रकृति-सोह निहारि तानसेन प्रान मतावत ॥

[४] नारायण के प्रति, विनय । रागिनी भैरवी । ताल चौताल ॥

अन्तकाल कृपा करो, हिआ-पर ठाढ़ौ, हरि कवँल-नैन, कवँला-पति, मुरली अधर, ललित-मधुर, बङ्किम भङ्ग बङ्क-बिहारी ॥

बदन खीन, इन्द्रिय-हीन ; पाप सुवँरि सुवँरि अस्थिर प्रान; निरासा प्रबर, विश्व अँधार; गेह छोड़ि प्रान जात हरि ॥

विषय आपद, सुख सम्पद धन जन दारा बाँधव सुत सब-कौ छोड़ि चलिहौं, एक करम अब सङ्गि रहियौं ॥

पतित-पावन प्रभु जनार्दन, पतित दीन तानसेन; विश्व-मोहन पार-गामी प्रान, आस्रय दीजै गोलोक-बिहारी ॥

[५] सूर्यास्त । रागिनी सायरी । ताल चौताल ॥

जगत-जीवन सविता-देव अस्ताचल-में जात, अँधार जगत मोहित होके मोह माया-में सुपत ॥

पसु-पंछी कलरव कर जात सब आपे कौ भवन, भये रहत गुपत ॥

प्रकृति स्वबध मुगध, मोह-जाल नर-नारी-जीव-जन्तु अचेतन होत, आवरे नींद सरन ॥

तानसेन-प्रभु कृपा-निदान जगत-कारन, अज्ञान-तम-सों जात लुपत ॥

[६] विनय । दरबारी तोड़ी । ताल चौताल ॥

प्रान मेरौ ही रोवत है विरह, प्रान-वल्लह निस-दिन ; हे हरि, सर-नागत दीन-कौ दरसन काहे न मिल ॥

ढूँढ़ि हिर्दं न पावै निधि, या विधि तेरी बिधि ; हिर्द-नाथ, दीन-नाथ, कौन गति कौन मेरे अपराध के फल ॥

सून प्रान, सून मन, सून हिर्द आसन; अँधार भयौ विस्व-संसार, हे नाथ ॥

तानसेन बिनती करत—आइ हिर्द जगन्नाथ मरुभूम प्रेम-बारि बरखि प्रान कीजै सीतल ॥

[७] परमेश्वर-स्तुति । रागिनी अलैया । ताल चौताल ।

जगत-जीवन हौ प्रभु भगत-बच्छल तूँ ही भगवान ; भगत-हिअ-पङ्कज-राज अचल-राज राज-राजेश्वर अगन-भुवन-पालक ॥

तूँ ही माता, तूँ ही पिता, तूँ ही धाता, बान्धव ; तूँ ही प्रिय प्राना-राम, तूँ ही सान्ति, सुख, गति, मोछ-भक्ति-दाता ब्रह्म तारक ॥

प्रान-बल्लह, बहुबल्लह—तानसेन-कौ एक बल्लह; माया-मोह-मुगध चीत संसार ताप तपत, सान्ति-दाता, दीजै सान्ति दीन-कौ ॥

[८] वसन्त । रागिनी हिन्दोल । ताल चौताल ॥

सरस सुन्दर ऋतुराज वसन्त आवत भावन, कुञ्ज कुञ्ज फूलि फूलि भवँर गूँज, कोयिल पञ्चम गान मतावै नर-नारी ॥

कानन कानन फूटत चमेली, बकुल, गन्धराज, बेली, मोतिया, गुलाब; सुगन्ध मनोहारी ॥

पवन चलत मन्द मन्द बिछुड़ि गन्ध चहुँ दिस; गुञ्जन झनन नाद पञ्चम पूरत सबहूँ बन-भुव ॥

रति-पति भज जुवक-जुवती, नाचत गावत हिन्दोल माति; गोविन्द-मङ्गल तानसेन गायौ री ॥

[९] वर्षाऋतु । राग मल्हार । ताल चौताल ॥

बादर आयौ री, बाल पिअ बिन लागइ डरपावन ॥

एक तो अँधेरी कारी, बिजुरी चवँकत उमड़-घुमड़ बरखावन ॥

जब-ते पिया परदेश-गवँन कीनौ, तब-तें विरह भयौ मों तन-तावन ॥

सावन आयौ, अत झर लावत ; तानसेन प्रभु न आवै मन भावन ॥

[१०] उमा की शिवपूजा। राग भैरव। ताल चौताल ॥

चन्द्र-बदनी मृग-नयनी हँस-गवँनी चली हैं पूजन महादेव ॥

कर लिये अरघ-थार पुहपन के गूथे हार, मुख दियरा जराए देवन में देव महादेव ॥

सोलह सिङ्गार बतीसौ अभरन सज नखसिख सुन्दरताई, छवि बरनी न जाइ, है निरमल मञ्जन कर सेव ॥

तानसेन कहै—धूप दीप पुष्प पत्र नैवेद्य लै ध्यान लगाय हर हर हर आदि देव ॥

[११] विरह। रागिनी विहाग। ताल चौताल ॥

साईं तूँ न आवै आज, आधी रात (आँधी रात), माझ माझ सिंहनी जगावै सिंह कानन पुकार ॥

चन्दन घसत घसत घस गये नख मेरे, बासना न पूरन माँग-को निहार ॥

धिक जनम मेरे, जग-में जीवन मेरे बिमुख लगावै नाथ पकरि बेनु बार-बार ॥

हौं जन दीन अति, नयन-हू बारि बहै ; तानसेन-अन्तर-बानी ध्रुपद पुकार ॥

[१२] विरह। राग विलावली। ताल चौताल ॥

तन की ताप तब ही मिटैगी मेरी, जब प्यारे-कौ दृष्टि-भर देखौंगी ॥

जब दरस पाऊँ प्रान-प्रीतम-कौ, जनम जीवन सफल अपनौ लिखाऊँगी ॥

अष्ट जाम मोहि-कौ ध्यान रहत वा-कौ, आली-कौ ले भेटौंगी ॥

तानसेन प्रभु कोऊ आन मिलावै, ता-के पावन सीस टेकाऊँगी ॥

गुसाईं तुलसीदास

मैंने कहीं किसी ऐतिहासिक का कथन सुना था कि १६वीं शती के अन्तिम भाग में भारतवर्ष में तीन दिव्यविभूति-युक्त महापुरुष विद्यमान थे ; पर भारत तथा विश्व के लिए यह खेद की बात थी कि उन तीनों का मिलन-साक्षात्कार और मेल-मिलाप नहीं हो सका। उनमें से दो—महामति सम्राट् अकबर और स्वाधीनता के वरपुत्र वीरश्रेष्ठ चित्तौड़राज प्रतापसिंह—तो आपस में प्राणान्तकर संग्राम में लगे हुए थे। तीसरे महापुरुष थे गोस्वामी तुलसीदास, जिनकी ख्याति अकबर के दरबार तक न पहुँचने का कारण यही था कि वे अपने आश्रम के एकान्त में छिपे रहते थे, अपने साधन-भजन में आत्म-समाहित थे, और कविता-रचना द्वारा अपने देवता की अर्चना करते थे। अकबर की बुद्धि और कर्म-शक्ति, प्रताप की शूरता और देश-प्रीति तथा तुलसी की भक्ति और कल्पना, प्रजा की आध्यात्मिक मुक्ति के लिए व्याकुलता—इन गुणों का संयोग यदि होता, तो भारत के लिए क्या न होता! पर विधाता का अभिप्राय मनुष्य के ज्ञान और विचार की पहुँच के बाहर है।

अकबर ने भारत की ‘ विश्व मैत्री ’ की प्राचीन वाणी को अपने ढंग से, ‘ सुलह-इ-कुल्ल् ’ के फारसी-अनुवाद के रूप में, भारत के जीवन में कार्यान्वित करने की चेष्टा की थी ; पर उनको इस साधना में सिद्धि नहीं मिली। प्रताप ने प्राणपण युद्ध चलाया था। इससे प्रताप की इज़्ज़त बची और राजपूतों का मुँह काला नहीं हुआ; पर भारत के हिन्दू स्वातन्त्र्य की रक्षा नहीं हो सकी। प्रताप की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों के बीच छत्रपति शिवाजी ने हिन्दू-जाति की रक्षा का बीड़ा उठाया और महाराष्ट्र में ‘ हिन्दू-पद-पादशाही ’ की स्थापना की।

पर एक सौ वर्षों के अन्दर ही सन् १७६१ में पानीपत के मैदान में शिवाजी तथा पेशवा लोगों की कीर्ति मिट गई। अकबर की भाव-धारा को उनके प्रपुत्र राजकुमार दाराशिकोह ने पुनर्जाग्रत करने का प्रयास किया; पर औरंगज़ेब के कट्टरपन की लू ने आकर उस निर्मल धारा को सुखा दिया। प्रताप की शूरता की कहानी आज तक जीती है। अकबर की उदारता और न्याय प्रतिष्ठा की स्मृति आज तक भारतीय प्रजा के हृदय से दूर नहीं हुई है। पर इन दोनों की विभूति हमारे लिए आज प्रत्यक्ष नहीं है—ऐतिहासिक अतीत की गुफा से अध्ययन और अनुशीलन द्वारा उन्हें आधुनिक जीवन में बाहर लाना पड़ता है, दैनिक-जीवन से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। पर तुलसीदास की बात दूसरी है। अपनी भक्ति के साथ-ही-साथ समाज की रक्षा के लिए उनका अपरिसीम आग्रह था, और इसी भक्ति और समाज-रक्षा की चेष्टा के फल-स्वरूप 'रामचरितमानस' महाग्रन्थ रचित हुआ था, जिसकी पूत धारा ने आज तक उत्तर भारत की हिन्दू-जनता के चित्त को सरस और शक्तिमान कर रखा है और जो उसके चरित्र को भी सामाजिक सद्गुणों के आदर्श की ज्योति से सदा के लिए आलोकित कर रही है। अकबर जनता के लिए केवल अतीत की कहानी के एक न्यायी बादशाह बन गए हैं। प्रताप की देशभक्ति विद्यालयों में बच्चों को सिखाने की वस्तु बन गई है; पर तुलसी पीढ़ियों से हमारे हृदय, सामाजिक बोध-विचार और हमारी आध्यात्मिक अनुभूति को अपने अमर ग्रन्थों द्वारा उद्योतित कर गए हैं। उत्तर-भारत के हिन्दुओं के मन में अपनी संस्कृति और अपने हिन्दूपन का यदि कुछ भी अभिमान हो, तो उसके लिए उन्हें गोस्वामी तुलसीदास का आभारी होना चाहिए।

वैदिक युग के पूर्वकाल से युग-धर्म के अनुसार परिवर्तित होते हुए जो बहुमुख और बहुरूप हिन्दू-धर्म 'सनातन-धर्म' के नाम से आज तक चला आया है, उसकी गति को अपने स्वाभाविक विकास की

अनुयायिनी रखने के लिए जिन मनीषियों ने प्रयत्न किया था, गोस्वामी तुलसीदास उन प्रमुखों में से एक थे। प्रवैदिक या प्राग्वैदिक (अर्थात् वेद-पूर्व) धर्म, जो भारत में आर्यों के आने के पहले अनार्य द्राविड़, निषाद और किरात जातियों में प्रचलित था और जिसे हम 'योगमार्गी आगमात्मक धर्म' कह सकते हैं, भारत में आये और नये बसे हुए आर्यों के वैदिक या निगमात्मक धर्म में सम्मिलित हो गया। आर्य और अनार्य धर्मों के इस गंगा-यमुना संगम से जो मिलित धारा निकली, वही प्राचीन हिन्दू-धर्म है। इसकी नई अभिव्यक्ति पौराणिक हिन्दू-धर्म के रूप में हुई, जो वेद और आगम दोनों के आधार पर प्रतिष्ठित हुई, और योग, पूजा आदि में जिसका आनुष्ठानिक प्रकाश हुआ। प्राचीन हिन्दू-धर्म में मस्तिष्क तथा हृदय—ज्ञान और भक्ति—दोनों का अपूर्व सामंजस्य किया गया। आभ्यन्तर दृष्टि या रहस्यवाद और पूजादि बाह्य लोकाचार का भी उसमें समन्वय हुआ। व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि, एक और बहु आदि में जो भाव-विषयक विरोध था, समाज की प्रजा-रक्षक विधियों को यथावश्यक मर्यादा देते हुए भी उसे दूर करने में इस नवीन निगमागमात्मक हिन्दू-धर्म ने अपूर्व समीक्षा और नीति दिखायी। ईसा पूर्व के एक हजार वर्षों के बीच जब वेदोत्तर पौराणिक हिन्दू-धर्म की नींव डाली गई, तब उसके सामाजिक और आनुष्ठानिक सिद्धान्तों तथा व्यवस्थाओं के विपक्ष में कई नये आन्दोलन उठ खड़े हुए। आध्यात्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों या विचारों में इन नये दृष्टिकोणों से हिन्दू या ब्राह्मण दृष्टिकोण में जो कुछ कम या बेशी विभिन्नता थी, वह ऐसी कुछ लक्षणीय बात न थी; पर सामाजिक सिद्धान्तों और विधि-नियमों में, सिर्फ संन्यास या वैराग्य को संसार में सभी के लिए एकमात्र आदर्श मानकर, बौद्ध भिक्षुओं ने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि चतुराश्रम को मानने वाले ब्राह्मण्य समाजादर्श पर सख्त हमला किया था। प्रजा-रक्षा के लिए, आपात दृष्टि से साम्य के विरोधी लगते हुए भी,

वर्णाश्रम-धर्ममय ब्राह्मण्य समाजादर्श केवल संन्यासादर्श बौद्ध-धर्म से अधिकतर उपयोगी था, यह सभी को मानना पड़ेगा। अस्तु, वेद तथा ब्राह्मण्य के विरोधी बौद्ध धर्म ने कई सौ वर्षों तक हिन्दू-धर्म या सनातन-धर्म के विपक्ष में काम किया। इससे समाज और संसार में कुछ अनाचार और विशृंखल-भाव आ गए। पर सनातन-धर्म धीरे-धीरे पुनर्जागृत हुआ। इधर गीता-साहित्य, महाभारत, रामायण और पुराणों का संकलन और बहुल प्रकाशन हुआ, जिससे वेदों से अपना सिलसिला बनाए रखते हुए पौराणिक मतानुसारी नवीन ब्राह्मण्य धर्म या नवीन हिन्दू-धर्म फिर नई शक्ति के साथ प्रतिष्ठित हुआ। उधर सुंग, काण्व और गुप्त वंशों के राजाओं का संरक्षण प्राप्त कर नवीन हिन्दू-धर्म, राष्ट्र का एकमात्र प्रधान धर्म बना। भास, कालिदास, बाणभट्ट, भवभूति आदि महाकवियों ने इस पुनर्जागृत हिन्दू-धर्म के आदर्शों को अपने अमर काव्यों और नाटकों में प्रकटित किया। अनुभवी ऐतिहासिकों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बौद्ध सामाजिक तथा आध्यात्मिक विप्लव से भारतीय प्रजा की रक्षा करने के महत् कर्म में संस्कृत महाभारत और रामायण ने, पुराणों और कालिदास जैसे कवियों के कृतित्व ने कितनी बड़ी सहायता की थी। इस धर्म-संघात में बौद्ध धर्म के कुछ महत्त्वपूर्ण मतवाद ब्राह्मण्य धर्म द्वारा गृहीत हुए; जैसे—अहिंसावाद। इससे आध्यात्मिक विचार की दृष्टि से ब्राह्मण्य का महत्त्व और भी बढ़ गया।

महाभारत, रामायण, पुराण आदि ग्रन्थों के सहारे, कालिदास बाणभट्ट, भवभूति आदि कवियों की वाणी से और कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, माधवाचार्य, रामानुजाचार्य आदि प्रमुख आचार्यों के शास्त्र-विचार से, मुसलमानों, तुर्कों, पठानों और ईरानियों द्वारा उत्तर-भारत पर चढ़ाई और विजय करने के कुछ पहले ही, सनातन हिन्दू-धर्म अपनी नवतम मूर्ति में सुस्थापित हो गया था। तुर्क, ईरानी, और पठान आए, और उत्तर-भारत के राजा बन बैठे। उनके साथ

ही साथ इसलाम भी अपने दो रूपों में प्रकट हुआ ; एक तो इसका शरीयती रूप, जिसे फैलाने के लिए मुसलमान-राजशक्ति और पशुबल —ग़ाज़ी और बुतशिकन—नियोजित हुआ ; और दूसरा, इसलाम का सूफ़ियाना रूप, जिसके प्रकार में लड़ाकू सिपाही या बादशाह का स्थान नहीं था। हिन्दू-रैयत के धर्म के विषय में असहिष्णुता, विरोध और उसके सत्तानाश करने की राह को छोड़, मुसलमान सूफ़ी साधुओं ने सहानुभूति और समझ से काम लिया। भारत में इसलाम का प्रचार इसलाम के इस दूसरे रूप के सहारे ही हुआ था। असहिष्णु, आक्रमणशील, शरीयती, या कुरानी इसलाम ने जब अपनी दैहिक शक्ति के साथ हिन्दू-धर्म पर चढ़ाई की, तब उसके परिणाम-स्वरूप हिन्दू-जाति का क्षात्र-वीर्य जागरित हुआ। मुसलमान-राजत्व-काल में राजपूत राजा, बंगाली ज़मीदार, मराठे जागीरदार, सिक्ख गुरुओं के चेले, विजयनगर के तेलुगू और कन्नड़ी नायक, मध्यभारत के गोंड सरदार आदि, हिन्दुओं की 'चोटी, बेटी, रोटी' की रक्षा करने के लिए खड़े हुए। आखिर पशुबल को हारना पड़ा। बलात्कार से बहुत कम लोग इसलाम में शामिल किए जा सके ; पर शान्ति की राह से सूफ़ी फकीरों और दरवेशों ने कहीं-कहीं भोले-भाले अशिक्षित, निम्नश्रेणी के हिन्दुओं को इसलाम की ओर खींच लिया। इन सूफ़ियों में हर तरह के लोग होते थे। उनमें कुछ तो सचमुच पहुँचे हुए साधक थे, जो पार्थिव वस्तु से निस्पृह थे और अपने साधन-गायन पाठ-जप में मस्त रहते थे। उनके साथ वार्तालाप करते हुए कितने ही अनुभवी हिन्दू विद्वानों या धार्मिकों के भी मन पर सूफ़ी-मार्ग का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता था—चाहे अनजान में, चाहे सज्ञान भाव में। फिर उनमें मतलबबाज़ लोगों की भी कमी न थी, जिनका उद्देश्य था, किसी प्रकार हिन्दुओं को मुसलमान बनाना। अस्तु, तुर्क और पठान-राज-काल में हिन्दुओं को एक बड़े भारी धार्मिक संकट का सामना करना पड़ा। बाहर से हिन्दू-

जीवन पर मुसलमान-राजशक्ति का निर्मम आक्रमण हुआ, और भीतर से सूफ़ियों ने—इसलाम के सहारे हिन्दू-धर्म के शत्रुओं ने अपनी ग़ैबी चाल से हिन्दू-धर्म और समाज का सत्तानाश करने की अथक चेष्टा की। देश में हिन्दू-राजशक्ति का अभाव, संस्कृत-विद्या की कमी के साथ-ही-साथ जातीय संस्कृति से हिन्दू-प्रजा की विच्युति, आध्यात्मिक तथा राजनीतिक पतन के युग में समाज-नेता ब्राह्मण का भी अपने धर्म-भाव से भ्रष्ट होना, और इससे जनता के मन में उनके प्रति विरोध-भाव; इनके अतिरिक्त सूफ़ी-साधना की नई आशिकाना रीति की ओर अशिक्षित और अपनी प्राचीन विद्या से विच्युत लोगों का आकर्षण—इन सब कारणों से हिन्दू-समाज मुसलमान-युग के पहले के कई सौ वर्षों तक पतनावस्था में गिरा रहा।

इस युग के लिए उपयोगी कुछ नये धर्म-मार्ग भी दिखायी दिए। तसव्वुफ़ या सूफ़ी-अनुभूति और दर्शन भारत के लिए एक नयी वस्तु न थी। हमारे वेदान्त से उसका कुछ मेल-जोल था। दूसरे, उसकी दृष्टि इन्सानियत की थी, इसलाम की कट्टर दृष्टि नहीं। फिर सूफ़ी-दर्शन और साधन-मार्ग ज्यादातर व्यक्तियों को ही लेकर थे; समाज से उनका सम्बन्ध उतना नहीं था। उधर शरीयती इसलाम में व्यक्ति की स्वाधीनता नहीं थी। वह समाज-केन्द्री था। हिन्दू-समाज की शक्ति कम होती जाती थी, इसलिए बहुत-से लोग व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ओर झुके। व्यक्तिनिष्ठ बौद्ध-मार्ग भारत से मिट चुका था, इसलिए इस समय लोगों को व्यक्तिनिष्ठ, और शृंखलित समाज की परवाह नहीं करने वाला सूफ़ी-धर्म ही दिखाई पड़ा। वह कट्टरपन और धर्म के नाम पर अत्याचार से मुक्त था, और साथ ही हमारे परिचित वेदान्त के मत से उसका बहुत-कुछ सादृश्य भी था। विभिन्न सम्प्रदायों के भारतीय संन्यास या वैराग्य के साथ सूफ़ी ढंग के ईश्वर-प्रेम को मिलाकर एक नए ढंग का साधन-मार्ग उत्तर-भारत में 'संत'-मार्ग के नाम से चल पड़ा। वैष्णव गोपी-प्रेम एवं वृन्दावन-लीला से सूफ़ी-

मतानुसारी भक्त-भगवान् के आशिक-माशूक-भाव के साथ कुछ सादृश्य होने के कारण ऐसा अनुमान होता है कि राधाकृष्ण के प्रतीक की सहायता से आध्यात्मिक साधन करने वाले प्रेम-भक्त वैष्णव साधकों द्वारा ये नये भाव उत्तर-भारत के हिन्दू-संसार में फैल गये। सच्चे अनुभवी भक्त के लिए आध्यात्मिक साधनों का ऐसा समन्वय कुछ हानिकर न था, वरन् इससे भारतीय आध्यात्मिक अनुभूति ने एक नये प्रकार की पूर्णता प्राप्त की। कबीर, नानक, दादू-जैसे साधकों की वाणी से यह समन्वय कैसे सार्थक और रसमय हुआ, इसका प्रमाण मिलता है। भारतीय वैदान्तिक 'सोऽहंवाद' और भक्ति का दास्य तथा मधुर भाव ईरान की श्रेष्ठ आध्यात्मिक अनुभूति के रंग में रँग गए। एक अनोखी आध्यात्मिक अनुभूति कबीर और उनके अनुगामियों में प्रकट हुई। यह वस्तु मुसलमान युग की भारतीय-साधना की एक गौरवमय वस्तु है।

पर इसके साथ ही एक ऐसा दृष्टिकोण भी प्रतिभासित हुआ, जो सर्वथा अनुमोदन के योग्य न था। यह था इस नये मार्ग का प्रति सामाजिक रूप। समाज की विधियों को मानने की ज़रूरत नहीं; प्राचीन विद्या और मानसिक संस्कृति की कुछ भी सार्थकता नहीं; केवल बैठे-बैठे अपने साधन में मस्त रहो, संत-मार्ग की ऐसी शिक्षा, समाज के लिए हानिकर भी थी—विशेषकर ऐसी अवस्था में, जब समाज के लिग भयंकर संकट आया था, और जब चाहिए था—व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को छोड़ कर ऐक्य (यूनिटी) और संहति (डिसिप्लिन) द्वारा समाज को सख्त और आघातसह बनाने की कोशिश करना। हिन्दू-समाज के धर्म-रक्षक नेता और राजा विध्वस्त हो गए थे। विद्यारक्षक ब्राह्मण, स्वार्थत्याग और कष्ट के साथ, पुरखों से प्राप्त रिक्थ या जायदाद वेदादि संस्कृत-विद्या की रक्षा किसी प्रकार करते थे; धार्मिक अनुष्ठान, पूजा-पाठ, श्राद्धादि द्वारा प्राचीन सामाजिक संस्कृति को जीवित रखते थे; तीर्थ-यात्रा द्वारा सारे देश में

हिन्दूत्व की एकता को प्रजा के चित्त में संजीवित रखते थे। ऐसी हालत में, केवल वैयक्तिक सहज प्रेम-साधना की आध्यात्मिक वाणी सुनकर समाज-संहति और जाति-रक्षा की ओर से जनता को खींच लेना; समाज और जाति-प्रेम के लिए, देश के श्रेष्ठ आध्यात्मिक तथा सामाजिक आदर्शों की रक्षा करने के लिए जिनमें आकांक्षा थी, उनको रोचक नहीं हो सकता था। जिस समय के विश्वग्रासी (टोटेलिटेरियन) भाव से ब्राह्मण या हिन्दू-संस्कृति पर आक्रमण होता था, उस समय ब्राह्मण की विद्या, ब्राह्मण की संस्कृति, ब्राह्मण के पूजा-पाठ और अन्य धार्मिक अनुष्ठानों को उपहास करके उड़ा देना, उस समय पाँचवें दस्ते के ही काम के सदृश था। धन्य हैं तुलसीदास जैसे कुछ समाज-संरक्षक, दिव्य दृष्टि-युक्त ऋषिकल्प विचार-नायक जिन्होंने इस विपत्ति के स्वरूप को पहचाना, और उससे हिन्दू-धर्म तथा हिन्दू-प्रजा को बचाने के लिए अपनी लेखनी को धारण किया! मध्य-युग के हिन्दू-इतिहास में तुलसीदास का महत्त्व यही था कि उन्होंने समग्र हिन्दू-संस्कृति को बचाने में अपरिसीम सहायता की; और हमारे विचार में तुलसीदास से यह सहायता आज भी हम हिन्दुओं को मिल सकती है।

तुलसीदास ईश्वर-प्रेमी थे, और साथ-ही-साथ मानव-प्रेमी भी। उनकी ईश्वर-सेवा या ईश्वर-भक्ति का एक बाह्य प्रकाश मानव की सेवा ही में हुआ था। उनके ग्रन्थों ने—विशेषकर 'रामचरितमानस' ने—कितना काम किया है। श्रुति-स्मृति और पुराण-अनुसारी धर्म-पंथ का प्रचार उन्होंने किया था; श्रुति याने वेद, स्मृति और पुराण के नाम लेने का अभिप्राय यही था कि हम हिन्दू लोग अपने महा-महिम पूर्वजों को न भूलें, जिनमें वेद, स्मृति, पुराण आदि महाग्रन्थ और उन ग्रन्थों का आश्रय लेकर एक महती संस्कृति उपजी थी। यह एक प्रकार के Historic Consciousness अर्थात् इतिहास विषयक बोध ने और Historic Idealism अर्थात् इतिहास-सम्भूत आदर्श के

आधार पर आध्यात्मिक साधन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए तुलसीदास ने बड़ी भारी लोकसेवा की। इस काम का फल यह हुआ कि जहाँ-जहाँ तुलसीदास का प्रभाव पहुँचा, जहाँ-जहाँ उनकी पुस्तकों के—खासकर उनके 'रामचरितमानस' के—पठन-पाठन हुए, वहाँ-वहाँ हिन्दू-जाति में अपने धर्म और अपनी संस्कृति, अपने अतीत और भविष्य के लिए अभिमान उत्पन्न हुआ, वर्तमान में काम करने के लिए हिम्मत आई, और दिल में जोश पैदा हुआ। तुलसीदास ने श्रीरामचन्द्र के चरित्र का महान् आदर्श हमारे समक्ष उपस्थापित किया। चरित्र-गठन में ऐसे आदर्श की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ कहना व्यर्थ होगा। वह तो स्वतः प्रत्यक्ष है। श्रीरामचन्द्र का आदर्श हमारे सामने जो विद्यमान है, यह हमारे लिए अहोभाग्य है। हमारी पारिवारिक पवित्रता तथा सुख-शान्ति इस आदर्श के ही कारण अब तक बची हुई है। इसने हमें सत्य की ओर दृढ़ किया है, और कायरपन छोड़ सचमुच पुरुष बनाने में पूरी मदद दी है। हिन्दू-संसार में अब जो कुछ robustness या पौरुष या वीर्यवत्ता है, वह तुलसीदास और उनके सरीखे राम-सेवक भक्तों की कृपा से आई है। समग्र उत्तर-भारत में अर्थात् पंजाब से लेकर बिहार तक और हिमाचल से लेकर विंध्य तक, जहाँ-जहाँ 'रामचरितमानस' पढ़ा और सुना जाता है, तुलसी प्रचारित श्रुति-अनुगामिनी रामभक्ति के साथ-ही-साथ कर्मी और उद्योगी, उत्साहशील और आत्म-सम्मानयुक्त हिन्दुत्व कायम हो गया है।

महाकवि भूषण ने छत्रपति शिवाजी के सम्बन्ध में कहा था—"शिवाजी न होते तो सुनति होती सब की।" यह प्रशस्ति-वचन गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में भी लागू होता है। यदि उस समय तुलसी हिन्दुस्तान में न होते, तो हिन्दुओं की कायिक सुन्नत न सही, पर मानसिक और आध्यात्मिक सुन्नत तो ज़रूर ही हो जाती। गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म और साहित्य द्वारा लोगों की आत्मिक

शुद्धि की। आत्मिक शुद्धि के सिवा भौतिक उद्योग या उद्यम कभी नहीं हो सकता। मध्ययुग के प्रत्यक्ष और परोक्ष मुसलमान-आक्रमण से हिन्दू-जाति का निस्तार करने, आत्म-मर्यादा, प्राचीन-संस्कृति पर आस्था, संहति-शक्ति प्रभृति समाज-शक्ति के बढ़ाने वाले सद्गुणों पर जाति की आत्मा को पुनः प्रतिष्ठित करने और सच्ची ईश्वर-प्रीति के साथ मानव-सेवा सिखाने के लिए तुलसी ने हिन्दू-जीवन में प्राचीन भारतीय ज्ञान और कर्म का पुनरावतरण कराया। इससे कहा जा सकता है कि सचमुच वाल्मीकि अर्थात् प्राचीन भारत का ज्ञान, भक्ति और काव्य-शक्ति तुलसी में अर्थात् मुसलमानी-युग के हमारे श्रेष्ठ धर्मनेता में अवतरित हुई थी। इसीलिए तुलसी के सम्बन्ध में "भक्तमाल" ग्रन्थ के कवि नाभाजीदास की तुलसी-प्रशस्ति सार्थक है—"कलि-कलुष-नाशन के लिये बालमीकि तुलसी भयो।"

तुलसीदास के ग्रन्थों द्वारा हमारा और एक महान् उपकार हुआ है। वह है भाषा के सहारे हिन्दुत्व और हिन्दू-संस्कृति का संरक्षण। तुलसी की कवित्व-शक्ति का विचार-विश्लेषण करने की चेष्टा मैं नहीं करूँगा। ऐसा करना मेरे लिए अनधिकार-चेष्टा ही होगी; पर भावों के महत्त्व के साथ-ही-साथ उनकी भाषा का माधुर्य हमें आनन्द-रस से भर देता है। उनकी अवधि और ब्रजभाषा की शब्दावली की झंकार से हमारा चित्त प्रीति-रस-सिक्त हो जाता है। देवभाषा और लोकभाषा दोनों के ताने-बाने से कैसा अपूर्व धूप-छाँह वस्त्र उन्होंने बनाया। इस भाषा के संस्कृत शब्द कैसे सुन्दर, सरस और सहज भाव से आ जाते हैं, इसमें कुछ भी कठिनाई, कुछ भी पंडिताई, नहीं दीख पड़ती। प्राकृतोत्तर युग में आधुनिक आर्य-भाषाओं में से अवधी को तुलसीदास ने जो मर्यादा दी थी, उतनी ऊँची मर्यादा बहुत कम ही भाषाओं को मिली। तुलसीदास की-सी ओजस्विनी और मधुवर्षिणी भाषा भारत में और कहाँ मिलेगी? मानों इस भाषा द्वारा मानव-चित्त के सबसे उच्च भावों और सुकुमार वृत्तियों का उद्घाटन

हो गया। इसकी मिठास कानों के भीतर से प्रवेश कर हमारे प्राण को विह्वल कर देती है। इसी ने अरबी फारसी के आक्रमण से हमें बचाया था। १८वीं सदी से मुसलमानी हिन्दी का (जिसे 'उर्दू' कहते हैं) जोर बढ़ा। हिन्दी से संस्कृत और शुद्ध हिन्दी शब्दों को यथा-सम्भव निकाल कर एक नई भाषा 'उर्दू' उत्तर-भारत में आ गई। उर्दू की चढ़ाई से उत्तर-भारत की प्रजा को मुख्यत: 'रामचरितमानस' की भाषा ने बचाया। लोगों की जिह्वा पर तुलसी की भाषा और मन में तुलसी के भाव यदि सदा के लिए नहीं बस गए होते, तो हमारी भाषा में उर्दूपन के साथ-ही-साथ हमारा आध्यात्मिक अधःपतन भी हो जाता। अतः संस्कृत शैली की आधुनिक भारतीय भाषा-परम्पराओं में तुलसीदास की संस्कृति को अवश्य उसके योग्य समादर देना चाहिए।

मैं बंगाली हूँ। मैं अपनी बंगाली-जाति के लिए इसे दुर्भाग्य समझता हूँ कि तुलसी, जैसे महापुरुष हमारे प्रदेश में प्रादुर्भूत नहीं हुए। कुछ-कुछ भाषा के पार्थक्य के कारण हम तुलसीदास को विशेष अपना नहीं सके। पुराने बंगला-साहित्य में एक मुसलमान कवि द्वारा किये हुए अनुवाद के रूप में मलिक मुहम्मद जायसी की 'पदमावत' बंगाली जनता के सामने—१७वीं सदी के द्वितीयार्ध में—प्रस्तुत की गई थी। नाभादास की 'भक्तमाल' का पुराना बंगला अनुवाद हो चुका है। उसी से तुलसीदास की जीवन-कहानी के साथ बंगाली पाठक—विशेषकर वैष्णव-समाज के पाठक—परिचित हुए। पुराने ज़माने में बंगाल में हिन्दी के परिचय की कुछ कमी नहीं थी; पर परिताप की बात है कि तुलसी की ओर बहुत कम लोग आकृष्ट हुए। तुलसी की रचनाओं से परिचित होने का सौभाग्य बहुत देर तक हम बंगालियों को नहीं मिला; पर एक बार परिचय होने के बाद, हम उन्हें छोड़ नहीं सकते, हम भी उनके चरणों के दास बन गए हैं। कोई पचास वर्षों के बीच 'रामचरितमानस' के कम-से-कम तीन स्वतन्त्र बंगला-

अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, जिनमें दो अनुवादों के साथ बंगला-अक्षरों में तुलसी की मूल रचना भी दी गई है। तुलसी के बहुत-से नीति और भक्तिमूलक दोहे भी बंगला में चालू हैं। कुछ ऐसे अनुभवी बंगाली सज्जन हैं, जो तुलसी-रामायण को बड़े ही चाव से पढ़ते हैं और उनकी विनय-पत्रिका आदि पुस्तकों का भी अध्ययन करते हैं।

तुलसी के चरणों में बैठने का शुभ अवसर मुझे कोई पचीस बरस पूर्व प्राप्त हुआ था, जब मैंने पहली बार 'रामचरितमानस' का पाठ किया था। मैंने उसे भाषातात्त्विक दृष्टि से ही पढ़ना शुरू किया था; पर मेरे पाषण्डी मन पर उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। व्याकरण के सुप-तिङ्, भाषातत्त्व का सूक्ष्म विचार, उच्चारणत्व की नुक्ताचीनी आदि, सब हृदय के भावोद्वेग से बह गये, अन्तःकरण भर गया और सूखी आँखें आँसुओं से भींग गईं। तब से मैं तुलसी को छोड़ नहीं सका। अपने व्यक्तिगत जीवन में मैंने उनको ऊँचे-से-ऊँचे आसन पर बिठाकर अपने आपको उनका दास ही माना है।

हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण

देशभाषा का व्याकरण लिखना भारतवर्ष में कुछ नयी बात नहीं। ऋषि पाणिनि ने जब संस्कृत का व्याकरण बनाया, तब उन्होंने संस्कृत को देश-भाषा में ही लिया था। अष्टाध्यायी में संस्कृत का नाम 'लौकिक' ही बताया गया है। इसके परवर्त्ती काल में प्राकृतों के कई व्याकरण रचे गये, अपभ्रंश की आलोचना हुई; इधर संस्कृत ने, प्राचीन होने के कारण लौकिक पदवी से 'देवभाषा' की पदवी पायी; उधर संस्कृत के सिवा और भाषाओं को ही देशभाषा या चालू बोली समझकर लोगों ने व्याकरणों का सहारा लेकर इनकी चर्चा की; पर प्राकृतोत्तर युग में, पंडितों में देश भाषा का आदर कम होता गया; यहाँ तक कि विद्वत्समाज में देशभाषा की चर्चा करने की आवश्यकता भी किसी को प्रतीत नहीं हुई। मुसलमानों के आक्रमण से प्राचीन विद्या के संरक्षण में ही पंडित लोग इतने व्यस्त थे कि देश की चालू बोलियों पर नजर डालने का किसी को अवसर ही न था। संस्कृत और कहीं-कहीं प्राकृत के पठन-पाठन के लिए नये व्याकरण लिखे गये, सैकड़ों टीका-टिप्पणियाँ बनीं; पर किसी विद्वान् ने पूर्वी, ब्रज, डिंगल, गुजराती, मराठी, मैथिल, बंगला, उड़िया आदि भाषाएँ सिखाने का प्रयत्न नहीं किया। मातृभाषा के विषय में अपने सहज तथा साधारण ज्ञान को ही मातृभाषा में कवितादि रचना के लिए लोग काफी समझते थे।

मुसलमान युग में भारतवर्ष की चालू बोलियों पर विदेशी लोगों ने सर्वप्रथम दृष्टि डाली। तुर्की और फारसी बोलने वाले विदेशी मुसलमानों को आहिस्ता-आहिस्ता हिन्दुस्तानी बनना पड़ा। उत्तर-भारत में इन्हें दो तीन पीढ़ियों में ही हिंदवी या हिन्दी को मातृभाषा के

रूप में स्वीकृत करना पड़ा। तुर्की या फारसी भाषा बोलनेवाले विजेता मुसलमान देशवासियों से मिलने लगे। उनकी औलादों की नसों में हिन्दुओं का खून बहा। बहुत से हिन्दू मुसलमान बने। मुसलमान होते हुए भी उनके रोम-रोम में हिन्दूपन विराजमान था। इन मिश्रित मुसलमानों में जो शिक्षित तथा कौतूहलप्रिय थे और जिनमें इसलामी कट्टरपन नहीं था वे फारसी ओर अरबी की तालीम खतम करके अपने वतन की हिन्दू संस्कृति से आकृष्ट हुए। ऐसे ही विदेशी खानदानों में अमीर खुसरो, अकबर, फैज़ी, अबुलफज़ल, खानखानाँ अब्दुर्रहीम और दारा शिकोह पैदा हुए। भारतीय मुसलान भी अपनी जातीय-संस्कृति से विच्युत नहीं हुए। इन दोनों प्रकार के लोगों में भाषा-साहित्य का आदर हुआ, भाषा सीखने का आग्रह दिखायी दिया, और इन्हीं की चेष्टा तथा इन्हीं के उत्साह से मुगल-युग में भारतीय देशभाषा के दो एक व्याकरण बने। मेरे मित्र, शान्तिनिकेतन विश्वभारती के फ़ारसी तथा उर्दू के अध्यापक, मौलवी ज़ियाउद्दीन साहब को किसी भारतीय मुसलमान विद्वान् ने फारसी में लिखे हुए ब्रजभाषा के एक व्याकरण[1] तथा ब्रजभाषा काव्य एवं अलंकार विषयक ग्रंथ का पता बताया, जो औरंगजेब बादशाह के शासन-काल में रचा गया था। आप इस समय इस पुस्तक को प्रकाशित करने का प्रबन्ध कर रहे हैं। पुस्तक निकलने से हमें ईसा की सत्रहवीं सदी के अंतिम भाग के फारसीदाँ मुसलमानों के व्यवहार के लिए लिखी हुई भाषा-विज्ञान की एक अच्छी पुस्तक मिलेगी, जिसमें दिये हुए ब्रजभाषा के व्याकरण को हम हिन्दी के एक विशिष्ट रूप का सबसे प्राचीन व्याकरण कह सकते हैं।

ब्रजभाषा तथा साहित्य-विषयक फारसी में लिखी हुई पुस्तक का

१—सुनीति बाबू की लिखित भूमिका के साथ यह पुस्तक विश्व भारती से प्रकाशित हुई है।

रचना-काल हम नहीं जानते हैं। लेखक ने अपनी किताब में सिर्फ इतना ही कहा है कि औरंगजेब बादशाह के जमाने में यह पुस्तक रची गई। समय शायद सत्रहवीं शताब्दी का अंतिम चरण होगा। पर इसी समय के एक योरोपियन की लिखी हुई हिन्दुस्तानी खड़ीबोली के व्याकरण की एक पुस्तक हमारे समक्ष है, जो हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण है। ऐसी पुस्तक का विवेचन हिन्दी-संसार के लिए कौतूहलोद्दीपक होगा। सन् १८९५ के जनवरी महीने में इटली के रोम नगर Reale Accademia dei Lincei सभा में इटली देशीय पंडित एमिल्यो तेत्सा Emilio Teza ने इस व्याकरण की ओर आधुनिक विद्वन्मंडली का ध्यान आकृष्ट किया था। भारतीय भाषातत्त्व के आलोचकों के अग्रणी सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने तदनन्तर भारतवर्ष में इस पुस्तक की बात सुनाई। अपने विराट् ग्रंथ Linguistic Survey of India के हिन्दी विषयक खंड में ग्रियर्सन साहब ने इस व्याकरण का एक छोटा सा वर्णन और इसके लेखक का कुछ परिचय भी दिया है। (L. S. I., Vol. IX, Part I, पृ० ६—८)।

उपर्युक्त वर्णन पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि एमिल्यो तेत्सा और ग्रियर्सन साहब इन दोनों महोदयों ने मूल पुस्तक का अवलोकन नहीं किया। पुस्तक तो योहन योशुआ केटेलेर (Johan Joshua Ketelaer) की लिखी हुई थी, पर प्रकाशित की गई थी हालैंड के लाइडन नगर से सन् १७४३ ईसवी में 'दावीद मिल वा मिल्लिउस' (David Mill या Millius) नामक एक पंडित द्वारा। केटेलेर हालैंड की ईस्ट इंडियन कंपनी के एलची थे और उन्हें सूरत से दिल्ली, आगरा और लाहौर आना पड़ा था। ग्रियर्ससन साहब का अनुमान है कि सन् १७१५ ईसवी के करीब केटेलेर ने अपना व्याकरण रचा होगा।

इंगलैंड में अवस्थान करते समय दावीद मिल या मिल्लिउस

द्वारा प्रकाशित केटेलेर की इस दुष्प्राप्य व्याकरण-पुस्तक की एक प्रति मेरे हाथ आई। मैंने उसे एक पुरानी पुस्तकों की दूकान से खरीदा। यह पुस्तक लैटिन में है, और इसमें इसलाम तथा यहूदी धर्मों के विषय में कई प्रबंधों के साथ-साथ, लैटिन में केटेलेर का हिन्दुस्तानी व्याकरण, फारसी व्याकरण, लैटिन-हिन्दुस्तानी-फारसी धातुपाठ, लैटिन-हिन्दुस्तानी-फारसी-अरबी शब्दकोष तथा हिन्दुस्तानी के समोच्चारणयुक्त कुछ शब्दों की संग्रह प्रभृति बातें दी हुई हैं। पुस्तक-प्रकाशक मिल ने, अपनी भूमिका में लिखा है कि केटेलेर की पुस्तकें हालैंड की भाषा डच में थीं, जिनका स्वयं उन्होंने (मिल ने) लैटिन में अनुवाद किया। मिल अरबी हिब्रू आदि प्राच्य-भाषाओं के पंडित थे, और हालैंड की Utrecht उत्रेखट् नगरी के विश्वविद्यालय में प्राच्य-भाषाओं के अध्यापक थे।

हालैंड के लाइडन नगर में कर्न इंस्टीट्यूट (Kern Institute) नामक एक नवीन सभा है। वह भारत तथा बृहत्तर भारत की संस्कृति की आलोचना के लिए स्थापित की गई है। उसके मुख्य अधिष्ठाता स्वनामधन्य पंडित डाक्टर फोगल (Dr. J. Ph. Vogel) ने अपने औदार्य से स्वयं हमें एक पत्र लिखकर केटेलेर के व्याकरण के विषय में बहुत-कुछ तथ्य बताए हैं। उनसे पता चलता है कि केटेलेर ने हिन्दुस्तानी और फारसी दोनों भाषाओं के व्याकरण डच भाषा में लिखे थे, और इस मूल डच पुस्तक की एक नकल इसाक फान दर हूफे (Isaac Van der Hoeve) नामक एक हालैंडीय ने सन् १६६८ ईसवी में लखनऊ में की थी। यह नकल आज-कल हालैंड के हेग या हाग (Hague) नगर के पुराने राजकीय पत्रों के संग्रहालय में संरक्षित है, और मिल ने शायद इसी प्रति से अपना लैटिन उल्था किया था।

अब मैं इस पुस्तक का कुछ परिचय दूँगा। यह व्याकरण वास्तव में एक छोटी पुस्तक है। हिन्दुस्तानी पदसाधन के कुछ सूत्रमात्र

उदाहरण के साथ इसमें दिए गए हैं। ४५५ पृष्ठ से ४८८ पृष्ठ तक इन बत्तीस पन्नों में ही कुल व्याकरण आ गया है। आजकल इतनी छोटी पुस्तक काफी नहीं समझी जायगी।

पुस्तक आद्यंत रोमन लिपि में छपी है, हिन्दुस्तानी शब्द रोमन ही में दिये गये हैं। केटेलेर की मातृभाषा जर्मन थी; पर उसने यह पुस्तक डच भाषा में विशेषतया डच लोगों के लिए ही लिखी थी। इसलिए रोमन वर्णों के मुख्यतः डच उच्चारण ही इसमें व्यवहृत हुए हैं। डच भाषा में हमारे परिचित रोमन अक्षरों के उच्चारण में कुछ विशेषता आ जाती है। पुस्तक के प्रथम अनुच्छेद में ग्रन्थकार ने Akar Nagari या नागराक्षर के सम्बन्ध में कुछ विचार किया है। ग्रन्थकार का यह कहना है कि ब्राह्मणों में एक प्रकार की पवित्र वर्णमाला का व्यवहार है, जो विशेषतया Banaras (बनारस) या Kashi (काशी) के विद्यालय में पायी जाती है। साधारण मुसलमान हिन्दुस्तानियों में एक दूसरे प्रकार की वर्णमाला का प्रचलन है जो Akar Nagari 'अक्षर नागरी' कहलाती है। इस उक्ति से ज्ञात होता है कि केटेलेर साहब ने गलती से संस्कृत को भाषा न समझकर लिपि रूप से ही उस पर विचार किया था। ब्राह्मणों में व्यवहृत प्राचीनतम लिपि का नाम उन्होंने 'देवनागर' बताया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में देवनागरी अक्षर 'बालबन्धु' नाम से प्रचलित है। तंगुती या प्राचीन तथा आधुनिक तिब्बती और मङ्गोल जाति की वर्णमालाओं के साथ हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की वर्णमाला बराबरी रखती है। मुसलमानों में फारसी अक्षर प्रचलित हैं। उनका कथन है कि हिन्दुस्तानी भाषा दो प्रकार की है; एक Padtanica (पटनाई) जो Patthena (पटना) शहर के नाम से विदित है, और दूसरी Daknica (दक्खिनी) अर्थात् Dhakon Dhakan या दखन (दक्षिण ?) प्रदेश की।

पुस्तक में वर्णमाला के पाँच चित्र दिये गये हैं। प्रथम में नागरी

अक्षर (Akar Nagari) नाम से और द्वितीय में 'देवनागरम' (Devnagaram) और 'बालबन्धु' (Balabandu) नाम से। ऐसे ही तीन बार नागरी वर्णमाल दी गई है। तृतीय चित्र में प्राचीन और नवीन तिब्बती अक्षर तथा मंगोल अक्षर हैं। इन तीनों चित्रों के अक्षर बहुत खराब हैं। चतुर्थ चित्र में ब्राह्मण वर्णमाला (Alphabetum Brahm) नाम से फिर देवनागर वर्णमाला और पंचम चित्र में बंगला वर्णमाला है। इन दोनों चित्रों की लिपियाँ बड़ी ही सुन्दर हैं। ये अंतिम दोनों चित्र बंगाल से मिले हैं, क्योंकि इनमें वर्णों के साथ-साथ रोमन अक्षरों में जो उच्चारण दिए गए हैं वे बंगालियों के उच्चारण के अनुसार हैं (जैसे "ङ" वर्ण का नाम दिया है oua—बंगला नाम "उवाँ"; "ञ" iha अर्थात् ia, बंगला नाम "इयाँ"; "ण" = ana, बंगला "आनो"; 'श, ष, स', = Shasa, sa ; यदि हिन्दी के अनुसार होती तो Sha, Kha, sa लिखा जाता ; "क्ष" = Kha, बंगला "ख्या")। प्रथम चित्र में अक्षरों के नीचे संख्या चिह्न दिये हैं, और इन संख्याओं के अनुसार पुस्तक में अक्षरों के उच्चारण लिखे हैं। प्रथम और द्वितीय चित्र में जा तीन बार देवनागरी अक्षर लिखे हैं, उनके रोमन प्रत्यक्षरीकरण (Roman transliteration) में बहुत कुछ अंतर है। इससे प्रकट होता है कि ग्रंथकार या प्रकाशक ने विभिन्न स्थानों से सोच्चारण नागरी लिपि संग्रह की है।

पुस्तक में नागरी अक्षरों के प्रत्यक्षर इस प्रकार दिये गये हैं—अं = ang, अः = gha; क = ka, ष (= ख) ka, ग = ka, घ = dgja, ङ = nia; च = tgja, छ = tscha, ज = dhea, झ = dgja, ञ = nia; ट = tha, ठ = tscha, ड = dha, ढ = dha, ण = nrha; त = ta, थ = tha, द = dha, ध = dh, न = na; प = pa, फ = pha, ब = ba, भ = bham, म = ma, य = Ja, र = ra, ल = la, व = wa, श = sjang, ष = k,cho, (अर्थात्

ख), स=ssa, ह+ha ; ल=lang, क्ष=k, cha ।

आज ढाई सौ वर्ष पूर्व जिन बेचारे यूरोपीय लोगों ने नागरी अक्षरों की आवाज कान से सुनकर उन्हें अपनी लिपि में प्रकट करने की चेष्टा की थी, वे कैसी आफ़त में फँसे, यह ऊपर के तीन-चार प्रत्यक्षरी-करण से प्रकट होता है। सौभाग्य से लेखक ने हिन्दी शब्दों का इस प्रकार का 'स्पेलिंग' केवल आरम्भ में अक्षरों में ही व्यवहृत किया है। व्याकरण में सरल रोमन स्पेलिंग वर्ण-विन्यास ही काम में लाया गया है, नहीं तो व्याकरण के हिन्दी-शब्दों को पढ़ना लोहे के चने चबाना हो जाता। अस्तु, हिन्दुस्तानी-उच्चारण के विषय में पुस्तक में कुछ उपदेश नहीं दिया गया है। इस पुस्तक के रोमन प्रतिवर्णीयकरण में रोमन वर्णों के डच उच्चारण माने गये हैं, जिन में ये बात लक्षणीय हैं; a=आ, e=ए, अ, ee=ए, i=इ, o=ओ, oe=उ, ऊ, u=उ; g=ख, ग; क=ख; J=य; s=ज़, स; tjt sj=च; dsj=ज, इत्यादि

शब्द-रूप इस प्रकार दिये गये हैं—

Beetha "बेटा" शब्द

Nominativus—beetha बेटा—beethe बेटे।

Genitivus—beetha - ka beethon ka बेटों का।

Dativus—beetha kon बेटा को—beethon kon बेटों कों।

Accusativus—beetha konबेटा कों—beethon kon बेटों कों।

Vocativus—E beetha ए बेटा—E beethe ए बेटे।

Ablativus—beetha se बेटा से—beethe se बेटे से।

Boedia—"बुढ़िया" शब्द

N—boedia बुढ़िया—boedien बुढ़ियें।

G—boedia ka बुढ़िया का—boedion ka बुढ़ियों का।

D—boedia kon बुढ़िया कों—boedio kon बुढ़ियों कों।

Acc—boedia kon बुढ़िया कों—boedion kon बुढ़ियों को।

Voc—E boedia ए बुढ़िया—E boedion ए बुढ़ियों।

Abl—boedia se बुढ़िया से—boedion se बुढ़ियों से।

"आदमी" शब्द

Admi आदमी—admion आदमीओं (आदमियों?)।

Admi ka, ke आदमी का, के—admion ka आदमीयों का।

Admi kon आदमी कों—admion kon आदमीयों कों।

e admi ए आदमी—e admion ए आदमीयों।

admi se आदमी से—admion se आदमीयों से।

और शब्द—beethi बेटी, बहुवचन में beetia बेटिया (बेटियाँ?); aandhoe आँड़ (=बैल), बहुवचन में aandho-eon आँड़ुओं; dsjoeroe जोरू, बहुवचन dsjoeroeon जोरूओं; baab बाप, बहुवचन baabe बापे; ank आँख, बहुवचन anke आँखें (आँखें?)—इत्यादि।

शब्द-रूप में कर्तृकारक और कर्तृकारक के सिवा अन्य कारकों के प्रातिपदिक में पार्थक्य नहीं दिखाया गया है। "का, के, की" का भेद कुछ नहीं बताया है। सर्वनाम शब्दों के रूप इस प्रकार दिखाये गये हैं—

N. me मैं—ham हम;

G. meere मेरे—apre अपरे (=अपणे? अपने);

D. mukon मुकों, मोकों—hamkon हमकों;

Ac. meera मेरा—hammare हमारे;

V. e me ए मैं—e ham ए हम;

Ab. mese मैं से (=मोसे, मुझसे)—hamse हमसे ;

N. toe तू—tom तोम्=तुम ;

G. teera तेरा—tommare तोम्मारे=तुम्हारे ;

D. teerekon तेरे कों—tomkon तुमकों ;

Ac. teera तेरा—tommare=तुम्हारे ;

V. e toe ए तू—e tom ए तुम ;

Ab. toese तू से—tomse तुम से ।

सर्वनाम के उत्तम और मध्यम पुरुष के कर्म-कारक के रूप "मुझे" और "तुझे" कर्मवाच्य क्रियापद के विवेचन में लाये गये हैं।

N. whe वह—inne इन (इन्हें ?) ;

G. isseka इसका—inneke इनके ;

D. issekon इसकों—innekon इनकों ;

Ac. whe वह—inneka इनका;

V. e whe ए वह—e inne ए इन;

Ab. isse इससे—innese इनसे ।

प्रश्नसूचक सर्वनाम भी दिये गये हैं। Kja क्या; Kjon, Kon क्यों, कौन—ये दोनों व्यक्तिवाचक बताये गये हैं। प्रश्नसूचक सर्वनाम के प्रयोग इस प्रकार हैं—

Kon he कौन है

Kon he oeder कौन है उधर

Kon dourte कौन दौड़ता

Kon bolte कौन बोलता

Kja ghabhar क्या खबर

Kja tjeyte क्या चाहता

Kjon ney क्यों नहीं

Kis waste किस वास्ते

Kjon क्यों (=कैसे)

Kitte कित्ता (=कितना)

सर्वनाम षष्ठी विभक्ति से सम्बद्ध पद स्त्रीलिंग होने से षष्ठी विभक्ति में जो "ई"—प्रत्यय आता है, उसका यह उदाहरण दिया है—Meera baab मेरा बाप, teere baab तेरे (=तेरा बाप; meeri

mae मेरी माय = माँ, teeri mae तेरी माँ ; hammare bhay हमारा भाई ; tommare bhen तुम्हारी बहन ; apre goura अपणो घोड़ा ; apre maal अपणो माल ।

उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामों में ' गौरवे बहुवचनम् ' सूत्र के अनुसार, अर्थात् आदर प्रदर्शित करने के लिए, जो एक वचन के स्थान में बहुवचन का व्यवहार किया जाता है, उसके रूप इस प्रकार दिये गये हैं—ham हम = nos etiam ego ' हम तथा मैं ' दोनों अर्थ में, तद्वत् tom तुम = एक वचन (आदरे) तथा बहुवचन, वैसे ही hammare, tommare—एक वचन तथा बहुवचन में। पुन: Toe, Tom ' तू, तुम ' का पार्थक्य इस प्रकार बताया है—Tom sahab hai तुम साहब है, tom meera sahab he तुम मेरा साहब है, toe tsjeker he तू चाकर है, Toe meera goelam he तू मेरा गुलाम है ।

नञर्थक अनुज्ञा में क्रियापद के साथ mat ' मत ' अव्यय का प्रयोग दिखाया गया है—mat dsjauw मत जाओ; mat kauw मत खाओ; doure mat दौड़े मत् ; Koo mat कहो मत् ; sooi mat सोए मत् ।

इस प्रकारक सर्वनाम-पर्व समाप्त करके, ग्रन्थकार ने ie, je ' ई ' तद्धित के संयोग से विशेषण शब्द किस रीति से भाववाचक विशेष्य बन जाते हैं उसके उदाहरण दिये हैं—

Ghoeb खूब—Ghoebje खूबी ;
Gosse गुस्सह—Gossie गुस्सी ;
Duwanna दिवाना—Duwannie दिवानी ;
Sorauwer ज़ोरावर—sorauwerien ज़ोरावरी ;
Tsjenga चंगा—Tsjengaie चंगाई ;
Sacht सख्त—Sachtie सख्ती ;
Alla अल्लाह—Allahie अल्लाही ;

इसके पश्चात् विशेषण-पर्याय है। पहले ही तारतम्य का विचार लिखा है–issoe ‘ इसू ’ (= इससों इससे) और sabsoe ‘ सबसू ’ प्रयोग द्वारा कैसे हिन्दुस्तानी का काम चलता है, यह दिखाया है—

Kalla काला, issoe kalla इसू काला ,

Karwa कड़ुवा, isoe karwa इसू कड़ुवा ;

gerra गहरा, issoe gerra इसू गहरा ;

moetha, issoe moetha मोटा, इसू मोटा ;

sabsoe ghoeb सबसू ख़ूब; sabsoe kerwa सबसू कड़ुवा इत्यादि।

तदनन्तर daar, gaar, tsje, wala, dass अर्थात् ‘दार, गार, ची, वाला, दाज़ ’ प्रत्ययों के योग से कर्तृवाचक विशेष्य बनाने की रीति उदाहरणों द्वारा दिखाई गई है—

Carres, carresdaar कर्ज़, कर्ज़दार ;

Darrie, darriedaar दाढ़ी, दाढ़ीदार ;

Tsjockje, tsjockjedaar चौकी, चौकीदार ;

Kesmet, kesmetdaar ख़ेजमत् (खिदमत्), ख़ेज़मतदार ;

Toop, tooptsje तोप, तोपची ;

Banduch, banduchtsje बंदूक, बंदूकची ;

Lackri, lackriwalla लकड़ी, लकड़ीवाला ;

Patter, patterwalla पत्थर, पत्थरवाला ;

Tier, tierendaas तीर, तीरंदाज़ ;

Dagge, Daggedaas दिक्क, दिक्कदाज़।

और, Nischan—nischanberdar निशान, निशानबरदार; तथा sonna—sonnaar सोना, सोनार—ये दो शब्द गलती से ‘ दार ’-प्रत्ययान्त शब्दों में शामिल किये गये हैं।

कई ‘ ई ’-कारान्त शब्दों के उत्तर स्त्रीलिंग में en ‘ इन, अन् ’ प्रत्यय होता है, उसके उदाहरण ये हैं—

Dhoobi—dhooben धोबी, धोबिन; Gharadi—Gharaden खरादी—खरादन; Malie—Malen माली, मालिन; Maotsje—Moetsjen मोची, मोचिन ;

आदरार्थं dsjieve 'जीवे' (जी) शब्द का व्यवहार बताया है—

Baab dsjieve बाप जीव ; Sahab dsjieve साहब जीव; Bhen dsjieve बहन जीव, Doost dsjieve दोस्त जीव; Doostru (शायद मुद्रण-प्रमाद से doostni हिज्जे में ऐसा हो गया होगा) dsjieve दोस्तनी जीव।

'अमुक' अर्थ में Fallan 'फलाँ' शब्द हिन्दुस्तानी में व्यवहृत होता है, यह भी बताया है।

तदनन्तर soe 'सू' और se 'से' postpositon या अनुसर्ग से कैसे तारतम्य प्रदर्शित होता है, उसके दो उदाहरण देकर विशेषण-पर्याय समाप्त किया है—Admi gora soe ghoeb he आदमी घोड़ा सू खूब है ; Hathi bhel se barra he हाथी बैल से बड़ा है।

इसके बाद, क्रियापद की आलोचना की गई है। अस्तिवाचक 'हो' धातु का रूप सबसे पहले दिया गया है। इस धातुरूप में बहुत-कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखायी गई हैं, जो आजकल की बोली में नहीं दिखाई देतीं। सम्भव है कि बहुत-से प्रयोग या उदाहरण लेखक ने गलती से दिये हों।

[१] Praesens (वर्त्तमान)

Me he मैं है (=हूँ)—Hom hoe हम हू ;
Toe he तू है—Tom hoe तुम हू ;
Whe he वह है—Inne hoe इने हू ;

[२] Imperfectum (अतीत) ;

Me hoea मैं हुआ—Ham hoee हम हुए ;

Toe hoea तू हुआ—Tom hoee तुम हुए ;
whe hoea वह हुआ—Inne hoee इने हुए।

[३] Perfectum (अनद्यतन अतीत)

Me, Toe, whe hoee tha मैं, तू, वह हुआ था ;
Ham, Tom, Inne hoee the हुए थे।

[४] Plusquam Perfectum (समाप्त अतीत)

Me, Toe, who hougea हो गया ;
Ham, Tom, Inne hougee होगे (=गये)।

[५] Futurum (भविष्यत्)

एकवचन (तीनों पुरुषों में) hunga हूँगा ;
बहुवचन („ „) hunge हूँगे।

[६] Futurum Secundum (द्वितीय प्रकार का भविष्यत्)

एकवचन (तीन पुरुष) hoonga होवोंगा ;
बहुवचन („) hoonge होवोंगे (=होऊँगा, होवेंगे)

[७] Imperativus (अनुज्ञा)

Toe ro तू रह, Tom roe तुम रहो (?)

[८] Iafinitivus (असमापिका क्रिया)

Hoea हुआ, Hoee होइ (=हो ? हुए ?)

इसी प्रकार karna 'करना' धातु के सम्पूर्ण रूप दिये हैं—

Praesens (वर्त्तमान)—Kartae करता, बहुवचन Kerte करते ;

Imperfectum—Karta tha करता था, Karte the करते थे ;

Perfectum— Kar tsjockae कर चुका, kar tsjocke कर चुके ;

Perfectum secundum—Kia किया, बहुवचन में kie किये ;

(कर्त्तरि प्रयोग माना गया है, अर्थात् क्रियापद कर्त्ता के अनु-सार बदलता है, कर्म के अनुसार नहीं)।

Plusquam Perfectum—Kia tha किया था Kie the किये थे।

Futurum Secundum—Karrega करेगा, Karrige करोगे।

(ये दोनों प्रकार के भविष्यत् काल कैसे दिये गये हैं, इसका पता नहीं चलता—संभवतः लेखक की भूल से ऐसा हुआ है)।

Imperativus—Toe karro तू करो, Tom karre तुम करें।

Infinitivus—Karre करे, अथवा Karne करने।

ऐसे ही और पाँच धातुओं के रूप भी प्रदर्शित किये गये हैं। यथा—

(१) खा धातु—Kghattae खाता, Kghatte खाते; Kge-tta the खाता था, Kghatte the खाते थे, Khoeya खूया=खाया, Khoeye खूये=खाये। दो प्रकार के भविष्यत्—Khaou-ngae खाऊँगा, Khaounge खाऊँगे; तथा Khavigae खाविगा, Khavige खाविगे। आदेश—Toe, Tom Kau तू, तुम खाओ।

(२) पी धातु—Piethae पीता, piethe पीते; pieethae पिये था, piethe पिये थे (गलती से ऐसा छपा है, असल में—pieta tha पीता था, piete the पीते थे—होना चाहिए) piea पिया, piee पिये ;=piee tha पिये था=pie the पिये थे, भविष्यत् pieonga पीऊँगा, pieonge पीऊँगे। (इस धातु में तथा इसके बाद ' गा ' धातु तथा ' हँस ' धातु के रूपों में भविष्यत् एक ही प्रकार का माना गया है)।

(३) गाना धातु—(gauna गावना धातु)=gauta गावता,

gaija गाइया (गाया) ; Me gauta tha tsjoeka मैं गावता था चुका ; gauonga गावोगा; Toe gau तू गाव, gauwena गावना—इत्यादि ।

(४) ' हँस ' धातु—haste हँसते; hasta tha हँसता था ; hassae, hasse हँसा, हँसे; hassonga हँसोंगा (हँसूँगा ;) इत्यादि ।

इसके बाद पृष्ठ ४७४ पृष्ट ४८५ तक क्रियापदों के अनेक प्रकार के रूप और प्रयोग दिखाये गये हैं दृष्टान्त-स्वरूप कुछ प्रयोग उद्धृत किये जाते हैं—Tad me kay tsjoeke तद मैं खाय चुका; Me nimaas kar tjoekke मैं नमाज़ कर चुका ; Me somsjoenge मैं समझाऊँगा; Me dsjievong मैं जीऊँगा; Me tsjets bol tsjoekkha tha मैं सच बोल चुका था ; Me lerragha = मैं लड़ेगा; Me kut kaye मैं कट खाया (अतीत कर्त्तरि) ; Me dsjawaad dia tha मैं जवाब दिया था ; Me lechte मैं लिखता; Me tsjop reonge मैं चुप रहूँगा ; इत्यादि ।

कर्मवाच्य की क्रिया की आलोचना में सर्वनाम misjae ' मुझे ' और toesjae ' तुझे ' का प्रयोग दिखलाया गया है । यथा—

Misjae peaar karte मुझे प्यार करते; Toesjae pakkertaja तुझे पकड़ता है; तथा—Ik kon poslaute एक कों फुसलावते, Hamkon deelasa deete हमको दिलासा देते ; Tomkon dsjellaia तुमकों जलाया ; Innekon doente इन्हें कों ढूँढ़ते; Sjad me kappra penne hoeae जद मैं कपड़ा पहने हुआ ; sjad me moeae hoeae जद मैं मुआ हुआ ; sjad toe cerre hoeae जद तू खड़ा हुआ; sjad whe bea karre hoeae जद वह ब्याह करा हुआ; sjad ham pokkare hoeae जद हम पुकारे हुए; इत्यादि ।

ईसाई धर्म के कुछ उपदेश और विनय (लैटिन मूल और हिन्दु-

स्तानी अनुवाद, दोनों में) पुस्तक समाप्त हो गई है। इन उपदेशों की भाषा भी देखने योग्य है—

Dsjoemmaka din tom jaet oor saaf racke, tsjae din tom kam oor tommare gesmet karro, wasteke saatme din he Godda saheb tommare Allaka, tad tom mat kam karro, tom oor tommare beetha, oor tommare beethi, oor tomroo tommare londi, oor tommare dsjanauwer, oor tommare moessaffar, we tommare der waesae me he, waste tsjae din me Godda asmaan oor sjimier benaie, derriauw oor sabke ender he, oor sustaie saatme din, is waste sahab saffa rackte, oor inne saat karte.

"जुम्मा का दिन तुम याद और साफ राखे, छे दिन तुम काम और तुम्हारे खेज़मत करो, वास्ते कि सातमी दिन है खुदा साहब तुम्हारे अल्लाह का ; तद तुम मत काम करो, तुम और तुम्हारे बेटा, और तुम्हारी बेटी, और तुम्हारी लौंडी, और तुम्हारे जानवर, और तुम्हारे मुसाफर, वह तुम्हारे दरवाजा में है ; वास्ते छे दिन में खुदा आसमान और जमीं बनाया, दर्या और सबके अन्दर है ; और सुस्ताई सातमी दिन, इस वास्ते साहब साफा रखते, और इन्हें साथ करते।"

इस पुस्तक में दी हुई ईसा-मसीह की विख्यात प्रार्थना (Lord's prayer) का अनुवाद इससे पहले ग्रियर्सन साहब की पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है।

केटेलेर का हिन्दुस्तानी व्याकरण यहीं पर समाप्त होता है। व्याकरण के सूत्र नितांत संक्षिप्त हैं, पर थोड़ा-सा भाषाज्ञान प्राप्त कराने के लिए काफी है। जो केटेलेर ने हिन्दुस्तानी सीखी थी और जिसे उन्होंने दूसरों को सिखाने की कोशिश की थी, उदाहरण और

अनुवाद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शुद्ध खड़ीबोली नहीं, बाजारू बोली है, और विशेषतया बंबई, सूरत आदि दक्षिणी भू-भाग के ढंग की बाजारू हिन्दुस्तानी है। थोड़ी सूक्ष्मता के साथ विचार करने से ही यह बात मालूम हो जायगी। इसकी भाषा चाहे जैसी हो; परन्तु खड़ीबोली के इतिहास की चर्चा करते समय इस व्याकरण की उपयोगिता को सभी विद्वान् स्वीकार करेंगे।

हिन्दुस्तानी व्याकरण के पीछे केटेलेर का फारसी व्याकरण मुद्रित है (पृष्ठ ४८६ से ५०३ तक)। यह हिन्दुस्तानी व्याकरण से भी संक्षिप्त है, और इसमें फारसी शब्द सिर्फ फारसी अक्षरों में ही दिये गये हैं, रोमन में नहीं। तदनन्तर फारसी व्याकरण के शेषांश में लैटिन, हिन्दुस्तानी और फारसी के १३६ क्रियापद लिखे हैं; जैसे—

Amo.—me piaar karte (मैं प्यार करता)
Decipio.—me deggabasi karta (मैं दगाबाज़ी करता)
Bajulo.—me oethoute (मैं उठावता)
Audio.—me sonte (मैं सुनता)
Facio.—me benate (मैं बनाता)
Gusto.—me taskte (मैं चखता)
Pugno.—me koesti karte (मैं कुश्ती करता)
Prodo.—me tsjogglie karte (मैं चुगली करता)
Mentior.—me bjoet bolte (मैं झूठ बोलता)
Laeor.—me ghosjaal he (मैं खुश हाल है)

फिर लैटिन-हिन्दुस्तानी-फारसी-अरबी का एक छोटा सा शब्दकोश दिया है, जिसमें करीब ६२५ शब्द हैं (पृष्ठ ५१० से पृष्ठ ५६८ तक)। इस शब्दकोष के अरबी शब्दों पर कुछ टिप्पणियाँ दी गई हैं—पन्नों का आधे से अधिक भाग इसी में लग गया है—अरबी शब्दों के धातुओं के विभिन्न वज़न के शब्द और अरबी बाइबिल में

इन शब्दों का अवस्थान तथा हिन्न प्रतिशब्द बताये गये हैं। इस शब्दकोश के हिन्दुस्तानी शब्द अलग छपाने के लायक हैं।

अंतिम तीन पृष्ठों में कुछ ऐसे हिन्दुस्तानी शब्द दिये गये हैं जिनके उच्चारणों का अन्तर बेचारे जर्मन और डच भाषी ग्रन्थकार के कान पहचान न सके। जैसे—Baagh (बाग), Bhagh (बाघ), Bag (भाग) ; Kham (खाम, खंभा), Kaam (काम) Kam (कम) ; Bhaar (बार = दरवाज़ा); Baare (बारह) ; Haser (हाज़िर), Hazaar (हजार), Aazaar (आज़ार), Hizar (इजार); Doo (दो), Dhooe (धोय); Hoea (हुआ), Koea (कुवा) ; Noen (नून = नमक), Oen (ऊन) ; Sjoor (ज़ोर), Soor (शोर); Gullab (गुलाब), Sjullab (जुलाब) ; इत्यादि।

मैं कृतज्ञता के साथ स्वीकार करता हूँ कि मेरे मित्र श्रीयुत ब्रज-मोहन वर्मा (सहकारी सम्पादक 'विशाल भारत') ने इस प्रबंध की भाषा-सम्बन्धी त्रुटियाँ संशोधित कर मुझे अनुगृहीत किया है।

. भारतीय संस्कृति का सूत्रपात

हम लोग अपनी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के अति प्राचीनत्व के सम्बन्ध में विशेष रूप से सचेत हैं। प्राचीन इतिहास का जिन्होंने भली भाँति अध्ययन नहीं किया, परन्तु जिन्होंने साधारण शिक्षा पायी है, ऐसी हिन्दू-सन्तान इस बात को स्वतःसिद्ध समझने की अभ्यस्त हैं, कि सारी दुनिया में सभ्यता का प्रथम प्रकाश इस भारतवर्ष में ही हुआ, और इस प्राचीनतम सभ्यता का सूत्रपात हमारे आर्य पूर्वजों में हुआ था। जगत् में सभ्यता का उद्भव आर्यों की मनीषा का फल है; सभ्यता के कारण जो कुछ कृतित्व मिलता है, वह आर्यों को मिलना चाहिए, और इसके बाद, हम लोग आर्यों के वंशधर हैं, इसलिए हम लोग भी इस कृतित्व के अधिकारी हैं। हमारी हिन्दू जाति की अति प्राचीनता के विषय में एक धारणा या संस्कार बचपन से हमारी नसों में जा बैठता है। पुराण की कहानियों में सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चार युगों की बात हम पढ़ते हैं, वह कितने लाख वर्ष की बात है। यदि लाखों वर्षों की बात न भी सही, तो निःसन्देह हजारों वर्ष की बात माननी ही पड़ेगी।

हम लोगों में जिन्होंने थोड़ी-सी आधुनिक शिक्षा को प्राप्त किया है, साधारणतः इस बात को एक प्रकार से मान लिया है कि भारतवर्ष के बाहर किसी एक स्थान से सहस्रों वर्ष पहले आर्य इस देश में आकर बसे, और उसके बाद हिन्दू सभ्यता की प्रतिष्ठा इन आर्यों ने की। जिनको केवल प्राचीन शिक्षा मिली, अथवा जो प्रायः संस्कृत का ही अध्ययन करते हैं, वे इस बात पर ध्यान देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं समझते, या किसी जरूरत को स्वीकार भी नहीं करते,—उनके लिए भारतवर्ष ही आर्य जाति की पितृ-भूमि है,—

भारत के बाहर के किसी स्थान से कभी आर्य लोग यहाँ आये, ऐसा सोचना इनके विचार में एक असम्भव कल्पना है। भारत के बाहर से आर्य लोग आये थे या नहीं, इस अवसर पर इस विषय् की कुछ आलोचना हम नहीं करेंगे। केवल इतना ही हम कह सकते हैं कि भारत के बाहर ही से आर्यों का यहाँ आगमन हुआ था, ऐसे मतवाद को हम मानते हैं।

बाहर से आर्य लोग भारत में आये थे, यह विचार विगत उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग से यूरोप के कई भाषातात्त्विकों के लेख में प्रकट होने और रूप ग्रहण करने लगा। इंगलैण्ड में बसे हुए जर्मन पंडित Friedrich Max Mueller फ्रीद्रिख् माक्स्-म्यूलर ने ही अपने लेखों और पुस्तकों में इस विचार को फैलाया। माक्स्-म्यूलर ने और उनके अनुयायी कई विद्वानों ने ऐसा अनुमान किया कि आज से चार हजार वर्ष पूर्व मध्य-एशिया में आर्य-जाति वास करती थी; वहाँ प्राकृतिक विपर्यय या और दूसरी किसी घटना वश आर्य लोगों का वास करना असम्भव हो गया, इसी से वे पश्चिम और दक्षिण के विभिन्न देशों में फैल गये। उनके कुछ झुंड यूरोप में गये, और वहाँ रूस, ग्रीस, इटली, जर्मनी, फ्रांस प्रभृति देशों में बसे। इन सब देशों के अधिवासी स्लाव, ग्रीक, इटालियन, त्यूतन, केल्त् जाति के लोग इन्हीं के वंशधर हैं। मध्य-एशिया से आर्यों का एक झुंड दक्षिण में आया, वह ईरान में उपविष्ट हुआ, फिर ईरान से उसका कुछ अंश भारतवर्ष में पधारा, इससे भारतीय आर्यों की उत्पत्ति हुई, जिन्होंने वेद के सूक्त रचे, जो कि भारतीय सभ्यता की जड़ हैं। विज्ञान तथा इतिहास के और विचार तथा मतवाद के साथ यह मतवाद भी यथा-समय भारतवर्ष में आ पहुँचा, और अंग्रेजी शिक्षित भारतीय लोगों ने बिना प्रतिवाद किये उसे ग्रहण किया। यूरोप में अंग्रेज और अन्य यूरोपीय जातियों के पढ़े-लिखे लोगों में इस मतवाद की प्रतिष्ठा तुरन्त हुई। संस्कृत, प्राचीन ईरानी, आर्मेनी—

एशिया-खंड की तीन सुसभ्य जातियों की ये तीन भाषाएँ, प्राचीन तथा यूरोप की प्रायः समस्त जातियों की भाषाएँ—यथा ग्रीक, लातीन, प्राचीन स्लाव, अल्बानी, केल्त्, त्यूतन—ये सब एक अवलुप्त मूल या आदि आर्य-भाषा से उत्पन्न हुईं। विगत उन्नीसवीं शती के प्रथमार्द्ध में तुलनात्मक भाषा-तत्त्व-विद्या ने इस तथ्य को निरूपित किया। जब एक " आदि आर्य-भाषा " मानी गई, तब इसकी बोलने-वाली एक " आदि आर्य-जाति " को भी मानना पड़ा ; और साथ-साथ यह भी स्वीकार करना पड़ा, किसी प्राचीन समय में कहीं-न-कहीं यह जाति वास करती थी। जो लोग इस समय विभिन्न आर्य-भाषाएँ बोलते हैं, वे जरूर उन्हीं आदि आर्यों के वंशधर हैं, और वे आजकल दुनिया की सबसे अधिक सभ्य जाति गिने जाते हैं। इसके अलावा, प्राचीन जातियों में हिन्दू, पारसीक, ग्रीक, रोमन इत्यादि आर्यभाषी कई जातियाँ भी सभ्यता के विषय में अत्यधिक उन्नत थीं। आदि आर्य-जाति के लोग भी सुसभ्य थे, ऐसा अनुमान करने में आधुनिक आर्य-जातीय अथवा " आर्यम्मन्य " लोगों को कुछ अन्त-राय नहीं प्रतीत हुआ। इस " आर्यवाद " को यूरोपीय पंडितों ने आहिस्ता-आहिस्ता स्थापित और सुगठित किया। देखा गया कि यूरोप के आधुनिक जातियों के लोग सारे संसार में फैल गये; पुर्तगीज, हिस्पानी, ओलन्दाज, अंग्रेज, फ्रांसीसी, जर्मन, स्कान्दीनावियन लोगों ने अफ्रीका, एशिया, अमरीका, आस्ट्रेलिया इन सब महादेशों में सर्वत्र यूरोप की सभ्यता का प्रचार किया ; बिना ज्यादा कष्ट उठाये हुए वे लोग उन मुल्कों में अपनी अप्रतिद्वन्द्वी प्रतिष्ठा को खड़ाकर स्थानीय " नेटिव् " लोगों पर आधिपत्य कर रहे हैं,—उन " नेटिव " लोगों को सुसभ्य बना रहे हैं (यह तो यूरोपीय विजेताओं की कही बात है)—और जब देखते हैं कि " नेटिव् " लोगों की स्थिति अपनी जाति के लिए असुविधा-जनक है, अथवा जब वैसा करना आवश्यक समझते हैं, तब उनका समूल उच्छेद

भी करते हैं—कई देशों में उच्छेद कर भी चुके। वे "आर्यवाद" के मामले पर, "एक ही इतिहास विभिन्न काल में पुनरावृत्त होता है" (History repeats itself) इस अर्ध-सत्य वचन को काम में लाये। इस समय आर्यभाषी लोग जैसा करते हैं, प्राचीन-काल में इनके पूर्वजों ने वैसा ही किया था—इस प्रकार का अनुमान पंडितों ने उपस्थापित किया। इस समय के यूरोपीय आर्य-भाषी लोगों के सदृश, सुसभ्य श्वेतवर्ण सुन्दर-कान्ति प्राचीन आर्य-लोग भी अपनी पितृभूमि से फैल गये थे ; नाना असभ्य या अर्ध-सभ्य जातियों के देशों पर जाकर आर्यों ने बिना श्रम के उन्हें जीत लिया। सभ्यता के आलोक से उन्हें जंगली बर्बर अवस्था से उन्नत कर मनुष्य पद-वाच्य बनाया। प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक कारणों से ग्रीस, इटली, भारतवर्ष प्रभृति देशों में नये बसे हुए आर्यों ने नयी-नयी सभ्यता की सृष्टि की। ऐसा व्यापार विशेषतया भारतवर्ष में हुआ था। इस भारतवर्ष में कृष्णकाय असभ्य जंगली अनार्य लोग रहते थे, इनमें सभ्य जीवन सभ्य चिंतन कुछ भी न था। आर्य लोग आये। वे अनार्यों से बहुत उन्नत थे, यह तो स्वतःसिद्ध बात है कि आर्य लोग उन्हें पराजित कर उनके शासक बन बैठे—और ऐसा तो होना ही चाहिए था। कुछ अनार्य आर्य लोगों के अधिकार में आये, उन्होंने आर्यों को मान लिया, वे आर्यों के अधीन हुए, आर्यों के दास बने ; आर्यों ने कृपा करके अपने समाज में उन्हें एक निम्न स्थान दिया, और वे "शूद्र" कहलाये। किन्तु बहुशः अनार्य लोग आर्यों के हाथ मारे गये। और जिन्होंने आर्यों की अधीनता को स्वीकार नहीं किया, वे पहाड़ और जंगल में भाग गये, जहाँ कि इनके वंशज, आजकल के कोल-भील-संथाल-कुर्कू, गोंड-कन्ध-उराँव-मालेर, गारो-बोडो-कुकी-नागा अब तक जङ्गली हालत में रहते हैं। सैकड़ों वर्ष पहले भारत में जो आर्य-लोग आये थे, वे यूरोप के आर्य-लोगों के पूर्वजों के सम्बन्धी थे ; इस विचार से, भारत के उच्चवर्णीय हिन्दू, जो कि अप ऽ

को विशुद्ध आर्यवंशीय सोच-कर मन-ही-मन अभिमान रखते हैं, अंग्रेज और दूसरे यूरोपीय—गण के स्वगोत्रीय बने—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये सब अंग्रेजों के दूर-सम्पर्कीय हम-नस्ल या सम्बन्धी सिद्ध हुए। ऐसी बात भारत के उच्चवर्ण के लोगों को बुरी न लगी (यह भी याद रखना चाहिए कि उच्चवर्णीय हिन्दू सबसे पहले अंग्रेजी पढ़ने लगे)। ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेज-लोग, जो भारत पर शासन करते थे, हम उन्हीं के समान हैं, क्योंकि हम उनके समवंशज हैं,—इस विचार से उच्चवर्णीय हिन्दुओं के मन के निभृत कोण में आनन्द का हिल्लोल-सा बहा। पर इस मनोभाव को स्पष्ट भाषा में जाहिर कर भारतीय जातीय आत्म-सम्मान-बोध पर डंडा मारने को कोई तैयार न था। अंग्रेजों ने भी इस सम्पर्क को किसी प्रकार से मान लिया, और भारतवर्ष के ब्राह्मण तथा और उच्चवर्ण के हिन्दुओं को (और उनके अनुगामी निम्नश्रेणी के हिन्दू लोगों को भी), Our Aryan brother the mild Hindu ऐसी आख्या देकर उनकी पीठ ठोंकी ; और अंग्रेजों की तुच्छता-बोधमिश्र इस उदारता से हमारे बहुत से लोग आनन्द से लोट-पोट हो गये।

हमारी हिन्दू-जाति विभिन्न जातियों के मिश्रण का फल है। प्राचीन काल में अनुलोम प्रतिलोम विवाह-द्वारा यह संमिश्रण हुआ था। इसके पश्चात्, तुर्कों के भारत-विजय के उत्तरकाल से, जाति-भेद की कठोरता आ गई, संमिश्रण पूरा नहीं हो सका। इसका परिणाम यह निकला कि हिन्दुओं के विभिन्न समाज या सम्प्रदायों में एक प्रकार का स्वातन्त्र्य-बोध रह गया ; कहीं-कहीं नयी तौर से यह स्वातन्त्र्य-बोध आ गया ; विभिन्न श्रेणियों में एक अबाध Sympathy या अनुकम्पा का अभाव नवीन रूप से प्रकट हुआ। अनुकम्पा का यह अभाव आधुनिक हिन्दू-संसार का सबसे बड़ा अभाव है। हम स्वातन्त्र्य या पार्थक्य-बोध के फलस्वरूप, जो अपने आर्यत्व का अभिमान रखते हैं। ऐसे उच्चवंशीय हिन्दुओं के मन में आभिजात्य-

बोध भी और सुदृढ़ हुआ ; यूरोप से लायी हुई अनार्य-जयी आर्यों की कल्पना ने उसे सहायता दी।

इस दुखद ढंग से हिन्दू-सभ्यता के सूत्रपात का इतिहास तैयार हुआ। कृष्णवर्ण कुत्सितकाय असभ्य बर्बर अनार्य जाति स्मरणातीत काल से इस देश में रहती थी। इस जाति का धर्म निहायत निम्नस्तर का था, इसकी रीति और नीति क्रूर थी। गौरवर्ण सुसभ्य आर्यों ने आकर इसे जीत लिया। आर्यों के हाथ हिन्दू सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। पहले युग के आर्यों की देवताओं की आराधना को अवलम्बन कर वेद-संहिता बनी ; इसके उत्तर काल में उन्हीं की देवताओं और राजा और ऋषियों की कथाओं पर पुराण-ग्रन्थ बने। रामायण, महाभारत और पुराण, आर्य राजाओं की पौराणिक कहानी-सम्बन्धी पुस्तकें हैं। अनार्य लोगों का धर्म और धार्मिक अनुष्ठान एक आध ग्राम्य अनुष्ठान या आख्यान के मध्य किसी प्रकार थोड़ा-सा रह गया—निम्न जातियों में प्रचलित पूजा-पद्धति और देवतावाद में नष्ट-प्राय अनार्य-धर्म चाहे कहीं आत्मगोपन करके रहता हो, परन्तु इसके समूचे चिह्न आर्य सभ्यता की बाढ़ के सामने मिट गये।

इस समय अनार्यों के सम्बन्ध से भारतवर्ष में, विशेष करके उत्तर भारत में, एक प्रकार की घृणा का भाव आ गया है। "अनार्य" शब्द ही इसके लिए बहुत अंश में उत्तरदायी है। यदि "अनार्य" शब्द केवल "अन्-आर्य" अर्थात् "जो आर्य नहीं, या आर्य-जाति-सम्पर्कित नहीं" इस अर्थ में प्रयुक्त होता, तो कुछ बात न थी। परन्तु "अनार्य" शब्द का "घृण्य, नीच" ऐसा अर्थ संस्कृत-युग से आ जाने के कारण, यह शब्द केवल जाति-वाचक या संस्कृति-वाचक न रहा, यह मानसिक तथा नैतिक अपकर्ष-वाचक हो गया। इस समय हमारे आर्यावर्त्त में हिन्दुओं की सब जातियाँ आर्यत्व का दावा सामने रख रही हैं—सब जातियों का मत है कि वे आर्य अर्थात् द्विज हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य—वे हरगिज शूद्र नहीं, अनार्य नहीं।

हिन्दुओं के समस्त समाज समान रूप से द्विज हों, आर्य हों, या अभिजात हों, अपने को उच्च समझ यथार्थ रूप से उच्च रहने की शक्ति को प्राप्त करें—आर्यानार्य सब ही के लिए हम यह हार्दिक कामना करते हैं।

आर्यों की श्रेष्ठता के विरुद्ध प्रश्न उठना ही आजकल हिन्दू जाति में heresy या पाखंडीपन या विधर्मि-मनोभाव-प्रसूत चिन्ता का फल समझा जायगा। आर्य लोग पृथ्वी की प्राचीनतम सभ्य जाति न थे, ऐसी बात कहना, या ऐसी बात का इङ्गित करना, पितृ-पुरुष की निन्दा करना जैसा या स्वजाति-द्रोहिता जैसा महापातक है- इस प्रकार का मनोभाव, बहुत से हिन्दुओं के मन में जान से या अनजान से परिव्याप्त है। पर हिन्दू के मन में सत्यानुसन्धित्सा (अर्थात् सत्य निरूपण की अभिलाषा) भी सदा जाग्रत रहती है। हमारे विचार में तीन मनोभाव हमारी हिन्दू-संस्कृति की जड़ हैं—समन्वय, सत्यानुसन्धित्सा और अहिंसा। जाति को अतीत जीवन में जो कुछ आध्यात्मिक तथा आधिमानसिक उत्कर्ष मिला, इसी सत्यानुसन्धित्सा की बदौलत। हमारी सत्यानुसन्धित्सा-रूप मनोवृत्ति अभी तक सम्पूर्ण रूप से विनष्ट नहीं हुई। इसी से, सत्य की खोज के कारण अगर कुछ संस्कार-विरुद्ध विचार हिन्दू-सन्तान के समक्ष प्रकट किये जाँय, तो चाहे पहले-पहल प्रचलित संस्कार पर कुछ आघात भले ही लगे, परन्तु साधारण हिन्दू प्रस्तुत मामले को अच्छी तरह से समझना चाहता ही है—नूतन तथा सम्पूर्ण रूप से अनपेक्षित होने के कारण ही प्रस्तावित विचार से घृणा नहीं करता और न अन्त तक उससे विमुख हो रह जाता है।

आर्यभाषा संस्कृत का स्थान भारतवर्ष में आर्यों के एकाधिपत्य के पक्ष में प्रबलतम तर्क-स्वरूप है—समग्र हिन्दू-शास्त्र इस आर्य-भाषा में ही में निबद्ध हैं। उत्तर भारत में इस समय विभिन्न रूपों में प्रकट एक ही आर्य-भाषा (पंजाबी, हिन्दी, बिहारी, बंगला, आदि) प्रचलित

है। आर्य एकाधिपत्य के विषय में यह दूसरा प्रबल तर्क है। इसके अतिरिक्त संस्कृत शास्त्र के—वेद के न हों, पुराण के सही—मत के अनुसार हमारा इतिहास भारतवर्ष में अनादि काल से धारावाहिक रूप से चला आया है—अनादि काल से यदि न माना जाय, तो भी अतिशय प्राचीन काल से तो है ही। भाषा-गत और साहित्य-गत इन दो तर्कों ने हमें सबसे अधिकता "आर्यवाद"–"आर्यवाद"–ग्रस्त बना रखा है।

इन तर्कों के प्रतिपक्ष में कई युक्तियाँ हैं, जिनमें मुख्य ये हैं—दाक्षिणात्य तथा दक्षिण भारत में सुसभ्य अनार्य भाषा का अस्तित्व; संस्कृत-समेत उत्तर भारत की आर्यभाषाओं में ओत-प्रोत भाव से विद्यमान अनार्य-भाषा का प्रभाव; खीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक के पूर्व कालीन समय के आर्य-भाषी हिन्दुओं की संस्कृति के निदर्शन न मिलना, भारत के बाहर आर्य-जाति का इतिहास और पृथ्वी के और प्राचीन स्थानों के इतिहास से भारत के इतिहास का संयोग।

तमिल भाषा अपने विराट् और प्राचीन साहित्य के साथ दक्षिण भारत में खड़ी है,—यही भाषा द्राविड़ों की स्वतन्त्र सभ्यता का एक अनपनेय निदर्शन है, जिसने आर्य-सभ्यता के सामने सम्पूर्णतया आत्म-बलिदान न किया। वैदिक-भाषा भारत की आर्य-भाषा का प्राचीनतम निदर्शन है, इस भाषा में प्राचीन आर्यपन विशेषतया वर्त्तमान है। पर इस वैदिक-भाषा में भी अनार्य भाषा का प्रभाव थोड़ा विद्यमान है। इसके अतिरिक्त, जितना इधर हम आते हैं, आर्य-भाषा (संस्कृत और प्राकृत) पर अनार्य-भाषा का प्रभाव उतना ही बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे आर्य-भाषा को अनार्य-भाषा के अर्थात् कोल-द्राविड़ के साँचे में ढाल दिया गया, आर्य-भाषा ने धीरे-धीरे अनार्य भाषा के घर में अपनी जाति का सत्यानाश किया इतना समझने में देर नहीं लगती।

दूसरी बात यह है कि हमें रामायण, महाभारत और पुराणों में

बड़े-बड़े राजाओं के नाम मिलते हैं, एक प्रौढ़ सभ्यता का पता भी हमें इन ग्रन्थों से चलता है ; परन्तु रामायण, महाभारत और पुराण के युग की (अर्थात् कम-से-कम तीन-चार हजार वर्ष पूर्व के हिन्दू युग की) पुरानी इमारतें, हाथ के काम, शिल्प के निदर्शन, ये सब कुछ भी नहीं मिलते। केवल कई हजार वर्ष के "पुराण" और "इतिहास" की कहानियाँ हमारी प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के अस्तित्व की एकमात्र प्रमाण-स्वरूप विद्यमान है। इस साहित्यिक आधार के सिवा दूसरा आधार, जिसे हम "पत्थरिया आधार" कह सकते हैं, हमारे पास मौजूद नहीं। क्या मौर्य-युग की पूर्व-कालीन हिन्दू-सभ्यता के निदर्शन कुछ भी नहीं हैं ? मिस्र, बाबिल, असीरिया, लघु-एशिया, क्रीट द्वीप—इन सब स्थानों में अब से तीन या चार-पाँच हजार वर्ष पूर्व की वस्तुएँ मिली हैं। भारतवर्ष में मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा में नगर के खंडहर और अन्य वस्तुएँ मिली हैं, वे सचमुच चार या पाँच हजार वर्ष पहले की हैं। परन्तु वे आर्य-जातीय लोगों के हाथ के काम नहीं—जो पंडित इस विषय पर अनुसन्धान कर रहे हैं, उनका विचार तो यही है। इसके अतिरिक्त, भारत के बाहर रहने वाले आर्य-जातीय लोगों के इतिहास पर विचार करना है। सबसे पहले अपनी आदि वास-भूमि से निकलकर इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात् और जातियों के साथ मिलन या संघर्ष में) किस समय आर्य लोग पधारे, उसका कुछ पता अब चल रहा है। यह तो अब केवल चार या साढ़े चार हजार वर्ष की बात है। इसी समय ग्रीस या उत्तर-पूर्व एशिया-माइनर या लघु-एशिया में आर्यों से हमारी पहली भेंट होती है। इस घटना के बहुत काल बीतने के पश्चात्, आर्य लोग भारतवर्ष में आये। हमारे विचार से, भारतवर्ष से आर्य लोग बाहर के देशों में गये, ऐसे अनुमान के पक्ष की युक्ति वैसी प्रबल नहीं। शेष बात यह है—भारतवर्ष के इतिहास को और देशों के इतिहास से अलग या विच्छिन्न कर देखना ठीक नहीं। प्राचीन काल

में पारस्य, बाबिल देश तथा एशिया-माइनर इत्यादि देशों से भारत-घनिष्ठ सम्बन्ध-सूत्र से बँधा हुआ था। उन देशों के साथ जो योगसूत्र भारतवर्ष का था, वह प्राचीन भारत के इतिहास के विवेचन में हमारा एक प्रधान अवलम्बन है। उसे छोड़ने से हमें कुछ लाभ नहीं पहुँचेगा। ग्रीस प्रभृति विभिन्न देशों में, विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों के लोगों के मिश्रण से किस प्रकार एक नवीन जाति और नवीन संस्कृति की सृष्टि हुई—हमारी हिन्दू जाति तथा हिन्दू-संस्कृति की सृष्टि की आलोचना करने के समय उस विषय पर भी हमें ध्यान देना चाहिए।

कैसे हिन्दू सभ्यता का सूत्रपात या आरम्भ हुआ, और अपने पूर्ण रूप या पूर्ण वैशिष्ट्य को प्राप्त करने के पश्चात् हिन्दू-सभ्यता कब "स्वे महिम्नि" खड़ी हुई, इन विषयों पर जो मतवाद हमारे विचार में धीरे-धीरे प्राचीन भारतीय संस्कृति के आलोचक पंडितों में साधारणतया स्वीकृत होता जाता है, और अन्त में जिसे सब ही स्वीकृत करेंगे, मैं अब उसका कुछ दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करूँगा। इस विषय को a posteriori रीति के (अर्थात् परिचित तथ्य के आधार पर अनुमान) प्रकट न करके, a priori रीति से (अर्थात् इतिहास-वर्णन के ढंग से), पौर्वापर्य अनुसार पुनर्गठित रूप की वर्णना करके कहूँगा।

इस समय से पाँच हजार वर्ष पूर्व, लगभग ३००० ईसवी पूर्व के आस-पास, पूर्व-यूरोप (रूस देश) के किसी अंश में आदि आर्य जाति वास करती थी। अपनी पितृ-भूमि में आर्य लोग सभ्यता के उच्च-स्तर पर पहुँच न सके। वास्तव में ये लोग प्राचीन काल की सुसभ्य जातियों के बहुत पीछे ही थे; पर इनमें बहुत-से मानसिक और नैतिक गुण थे। ये लोग एक साथ कृतकर्मा तथा चिन्ताशील, कल्पनाशील तथा दृढ़व्रत जाति थे, और आपस में संघबद्धता का भाव भी इनमें यथोपयुक्त था; फिर यह अनुमान होता है कि स्त्री-

जाति के विषय में इनमें कुछ ऐसी उच्च धारणाएँ थीं, जो आजकल की सभ्यता में भी विद्यमान हैं। आर्यजाति में कई कबीले या गोत्र थे, इन गोत्रों में इनकी मूल-भाषा के कुछ-कुछ पार्थक्य आ गये। यह आर्य-जाति किन्हीं कारणों से अपनी पितृ-भूमि छोड़कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चले जाने को बाध्य हुई; देश में अत्यधिक सर्दी का आकस्मिक प्रभाव इसमें एक कारण हो सकता है; और यह भी सम्भव है कि पूर्व और उत्तर से उराल-अल्ताई जाति के लोगों ने आर्यजातियों पर चढ़ाई की, इससे इन्हें अपना प्राचीन वास-स्थान छोड़ना पड़ा।

जिस समय आर्य लोग, ईसवी सदी के लगभग ३००० वर्ष पूर्व, पहले अपने देश में थे, और कुछ खेतो का काम तथा कुछ गो-मेषादि-पालन इनकी मुख्य वृत्ति थी, उसी समय पृथ्वी के कई अन्य भागों की सभ्यता विशेष ऊँची थी। इनमें पहली थी मिस्र की सभ्यता, जिसका प्रारम्भ ईसवी साल के पूर्व ४ हजार से अधिक वर्ष से था, और जिसकी जड़ और भी प्राचीन है। दूसरी—बाबिल और असीरिया की सभ्यता, जो मिस्र से समानता करती है; और इन दोनों से भी अलग एशिया-माइनर और यूनान की प्राचीन सभ्यता है। विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, बड़ी-बड़ी इमारतें और बड़े-बड़े देव-मन्दिर, वाणिज्य, युद्ध-विग्रह, विजयगाथा, देवतावाद और पुराण-कहानी, पुरोहित श्रेणी, भास्कर्य, मूर्तिशिल्प, चित्रविद्या, शिलालेख, मृण्मय लेख, धातु-निर्मित और मृण्मय पात्र इत्यादि विषयों के सहारे इन सभ्यताओं ने रूप ग्रहण किया। आदिम अवस्था के आर्यों में ये सब कुछ न थे—यहाँ तक कि इनमें शिल्प-विद्या-विषयक जागृति भी न हो सकी। जब आदिम आर्य लोग अपनी पितृभूमि में थे, तब उन्होंने एक विशेष उपयोगी साधन संग्रह किया—वे घोड़े को अपने वश में लाये। घोड़े पर सवार होकर, या दो पहियेवाले रथ पर चढ़कर, दूर-दूर देश तुरन्त अतिक्रम करने का एक उपाय उन्होंने

आविष्कार किया। इस आविष्कार का एक फल यह हुआ, कि आर्य लोग जब पहले-पहल इतिहास के रङ्ग-मञ्च पर उतरे, तब पार्थिव-सभ्यता में अर्द्ध-बर्बर होते हुए भी, सुसम्बद्ध, सात्माभिमान, कर्म-शक्तियुक्त तथा भावना-शक्ति-युक्त होने के कारण, इन्हें रोकना आसिरीय-बाबिल, एशिया-माइनर और ग्रीस की सुसभ्य जातियों के लिए कठिन काम हो गया। ईसा के लगभग २,००० वर्ष पहले, आर्य-जाति इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात् अपनी पितृ-भूमि के बाहर दूसरी जातियों के देशों में) सर्वप्रथम दिखायी दी। इनके आगमन का समाचार हमें प्राचीन असीरिया और बाबिल प्राचीन एशिया-माइनर और प्राचीन यूनान में मिलता है। इस समय भारतवर्ष की अवस्था कैसी थी, यह हम ठीक-ठीक नहीं जानते। निःसंदेह उस समय द्रविड़ी और कोल (ऑस्ट्रिक अर्थात् दक्षिण देशीय) श्रेणी के अनार्य लोग, उत्तर-भारत में गंगा और सिन्धु के तीर पर, तथा दक्षिण भारत में, अपने जीवनाचार को स्थापित करके शान्त-भाव से दिन बिताते थे। इनमें आर्यलोगों की, जो अब तक कई झुंडों में विभक्त हो चुके थे और इन विभिन्न झुंडों में कुछ-कुछ भाषा-गत पार्थक्य भी आ गया, एक शाखा एशिया-माइनर में बसी, जो कि अब "हित्ती" Hittite नाम से हमारे यहाँ प्रख्यात है। भाषा-तात्त्विक लोग इनकी भाषा का (जिसे पंडितों ने पढ़ा है) विवेचन करके ऐसा विचार करते हैं कि हित्ती शाखा के आर्य लोग सबसे पहले आदिम आर्य-संसार से विच्छिन्न हुए, और एशिया-माइनर में आकर बसे, वहीं स्थानीय जातियों में सुप्रतिष्ठित होकर उनके शासक बने। हित्ती लोगों की आर्य बोली में मूल आर्य-भाषा की कुछ ऐसी विशेषताएँ संरक्षित थीं, जो कि दूसरी प्राचीन आर्य बोलियों में भली भाँति नहीं मिलतीं (देखिए—Edgar H. Sturtevant एड्गर एच० स्टर्टेवेंट—ए कॉम्पैरेटिव् ग्रामर ऑव दि हिटाइट लैंगवेज, लिंग्विस्टिक सोसायटी ऑव अमेरिका, फिलाडेल्फिया, १६३३; पृष्ठ

२६-३३, तथा अन्यान्य पृष्ठों पर दिये विचार)। ईसा के पूर्व द्वितीय सहस्रक के मध्य-भाग में हित्ती लोग एशिया-माइनर में राज्य करते थे, निश्चय ही इसके कुछ शतक पूर्व वे वहाँ आए होंगे। ईसा के दो सहस्र वर्ष पूर्व, आर्यों के झुंडों का पता हमें चलता है। पहला ग्रीस-विजयी आर्यों का, जो ग्रीस की प्राचीन सुसभ्य अनार्य जाति के साथ संघर्ष में आये। दूसरा एशिया-माइनर के हित्ती आर्यों का, जिनके विषय में ऊपर कुछ कहा गया है। और तीसरा, पूर्व के आर्य लोगों का, जो ईसा के पूर्व लगभग २,५०० वर्ष से उत्तर-इराक, असीरिया और बाबिल देश में आते थे। इन तीनों श्रेणियों के आर्यों में कुछ भाषागत पार्थक्य दिखायी देता है। अतः मूल आर्य-भाषा का परिवर्तन और विभिन्न रूप-ग्रहण का कम-से-कम ईसा के पूर्व तीसरे सहस्रक के प्रथमार्ध से आरम्भ हुआ।

ऐसे कुछ कारण हमारे समक्ष अब भी दीखते हैं, जिससे हमारी सभ्यता की उत्पत्ति के इतिहास को मध्य-एशिया के सम्पर्क से छुड़ाना पड़ेगा। जो आर्य भारतवर्ष की ओर चले, वे उत्तर-मेसोपोतामिया की राह से आये,—ऐसा आभास हम पाते हैं। मध्य-एशिया में आर्य पितृ-भूमि का अवस्थान निश्चय करने की सामग्री कुछ नहीं है, यह तो केवल कल्पनाप्रसूत ही है। मेसोपोतामिया से सम्पर्क के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण मिलने के पश्चात्, मध्य-एशिया की बात काल्पनिक सिद्ध हो जाती है। जब से आर्य लोग उत्तर-मेसोपोतामिया में सर्वप्रथम प्रकट हुए, तब से उनके सम्बन्ध में बाबिल देश और असीरिया के लोगों ने जो कुछ कहा, वह ही आर्य लोगों के विषय में सबसे प्राचीन सम-सामयिक उल्लेख है। इनकी कही हुई बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि सुसभ्य असीरीय, बाबिलोनीय तथा एशिया-माइनर की जातियों के मध्य आर्य लोग जब आये, वे चाहे कृष्ण-सागर के उत्तर तीर की राह लेकर उत्तर से काकेसस पर्वत अतिक्रम करके आये हों, या चाहे उत्तर-ग्रीस के मकदूनिया और थ्रेसिया की राह होकर कृष्ण-

सागर के दक्षिण तीर के रास्ते एशिया-माइनर और मेसोपोतामिया में आये हों। बहुत से झुंडों में नवागत आर्य लोग पधारे। इनके कुछ गोत्र उन सब स्थानों पर रहते थे, और अन्त में वहीं बस गये। इन्होंने स्थानीय जातियों के मध्य अपने लिए एक गौरवान्वित स्थान कायम कर लिया, और ये कहीं-कहीं स्थानीय लोगों को जीतकर उनके शासक बने, यहाँ तक कि आर्य आगन्तुकों के एक झुंड ने (जिसके गोत्र का नाम था Kashshi या Cassite—स्यात् आर्य-भाषा में इस शब्द का रूप "काशि", "काश्य" हो) बाबिल नगरी पर दखल कर कई सदी तक वहाँ राज्य किया। जो आर्य-गोत्र वहाँ रह गये, वे धीरे-धीरे उस देश के लोगों से मिल गये, और उन्होंने स्थानीय भाषा को ग्रहण कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को विलुप्त कर दिया; परन्तु इन आर्यों के राजा या मुखियों के नाम, इनके देवताओं के नाम और इनकी भाषा के दो-चार शब्दों से पता चलता है कि इनकी भाषा कैसी थी। इन सब आधारों से, खीस्ट-पूर्व २००० से १२०० तक मेसोपोतामिया और उसके आस-पास बसे आर्यों की हालत का कुछ पता भी हमें चलता है। ये आर्य ही इस प्रान्त में सबसे पहले घोड़े को लाये। जो भाषा इनमें बोली जाती थी, वह वैदिक और प्राचीन ईरानी इन दोनों की जननी थी। अपितु, इनका जो धर्म था, और जिन देवताओं की अर्चना ये लोग करते थे, उनके सम्बन्ध में जो समाचार हमें मिलते हैं, उनसे प्रतीत होता है कि इन्हीं का धर्म, तथा इन्हीं का देवता-लोक भारतवर्ष में पहुँचकर वैदिक धर्म तथा वैदिक देवता-लोक में परिवर्तित हो गया। सचमुच मेसोपोतामिया और एशिया-माइनर वाले आर्य लोग प्राग्वैदिक या वेद-पूर्व आर्य थे। भारतीय वैदिक धर्म का सूत्रपात इन्हीं के तथा पारस्य की ओर चले हुए दूसरे आर्यों के मध्य हुआ था। और यह बात भी सम्भव है कि मेसोपोतामिया तथा पारस्य में, ये आर्य लोग अपने देवताओं के विषय में स्तोत्र या भजन बनाते थे, उन सब

स्तोत्र या भजनों में से कुछ-कुछ अंश भारतवर्ष तक पहुँचे। भारतवर्ष में नये बनाये हुए और स्तोत्रों के साथ ये पुराने स्तोत्र (जो कि ईसा के पूर्व लगभग २००० या १८०० या १५०० में बनाये गये) भारतीय द्विज, ऋषि या आचार्यों से ईसा के पूर्व लगभग १००० या ६०० में आद्य ब्राह्मी लिपि लिखित हुए, और "व्यास" नामक किसी ऋषि के द्वारा तीन संहिता-ग्रन्थों में संगृहीत और संरक्षित हुए।

वेद के पूर्व के युग आर्यों के कुछ नाम और उनकी भाषा के कुछ शब्द अब दिये जाते हैं। ये नाम तथा शब्द बाबिलीय तथा एशिया-माइनर की प्राचीन भाषाओं में गृहीत होकर रक्षित हुए। स्थानीय अनार्य भाषाओं में इन प्राचीन आर्य शब्दों का रूप तथा उच्चारण ज्यों-का-त्यों संरक्षित नहीं हो सका। इनके मूल-रूप जो कि हिन्दू-ईरानी-युग की आर्यभाषा में चालू थे, तथा इनके भारतीय वैदिक भाषानुमोदित प्रतिरूप, बहुत विचार और अनुमान कर निर्धारित किये गये हैं।

देवताओं के कुछ नाम ; यथा—

१—Shuriash = वेद-पूर्वीय आर्यभाषा में Surias, वैदिक "सूर्यः"।

२—Maruttash = वेद-पूर्व Marutas, वैदिक "मरुतः"।

३—Shimalia = "उज्ज्वल (अर्थात् तुषार-धवल) पर्वताधिष्ठात्री देवी" = वेद-पूर्वीय Zhimala = वैदिक "हिमाल-"

४—Shugamuna = "महामारी का देवता, ज्योति का देवता" = वेद-पूर्वीय Slauka-manas = वैदिक "शोक मनः"।

(३ और ४ संख्यक दो देवता, भारतवर्ष में वैदिक जगत् से निर्वाधित हुए, वेदों में इनका पता नहीं चलता)।

५—Dakash = "नक्षत्रों का पिता"—भारतीय "दक्ष", सत्ताईस नक्षत्रों का पिता।

६—Indara = वैदिक "इन्द्र" ("ई-न्द-र"—स्वरभक्तियुक्त रूप)

७—Mitra = वैदिक "मित्र";

८—Nashattiya = वैदिक "नासत्य";

९—Uruwana या Aruna = वैदिक "वरुण"; आकाश तथा सागर का देवता।

राजा या प्रधानों के कुछ नाम

१—Abirattash = वैदिक "अभिरथः";

२—Shuzigash = वैदिक रूप "सु-जिगः"।

३—Artamanyu = वेदपूर्वीय Rta-manyas, वैदिक "ऋतमन्यः"।

४—Arzawiya = वैदिक "आर्यव्य"।

५—Biriamaza = वैदिक "वीर्यवाज"।

६—Biridashwa वैदिक "वृद्धाश्व"।

७—Dashru = सम्भाव्य; "दश्रु" अथवा "दस्र"।

८—Aitagama = वेदपूर्वीय Aitagama, *"अइतगाम" वैदिक "एतगाम"।

९—Indaruta = वेदपूर्वीय Indarauta, Indrauta *"इन्द्रउत," वैदिक "इन्द्रोत"।

१०—Namyawaza = सम्भाव्य वैदिक, "नाम्यवाज"।

११—Ruhmanya = सम्भाव्य वैदिक "रुचिमन्य"।

१२—Shatiya = वैदिक "सत्यः"

१३—Shubandu = वैदिक "सुबन्धु"।

१४—Shumittarash = वैदिक "सुमित्र"।

१५—Shuwardata = सम्भाव्य वैदिक * "सुवर् दात" = "स्वर्दत्त"।

१६—Teuwatti = सम्भाव्य वैदिक * "द्यवात्त"।

१७—Turbazu = "तुर्वशु, तुर्वसु"।

१८—Tusharatta = पूर्व—वैदिक Duzhratha = वैदिक "दूरथ"

१६—Artashumara = वैदिक "ऋतस्मर"।

२०—Artatama = वैदिक "ऋतधाम"।

२१—Dashartti = सम्भाव्य वैदिक "दारार्त्ति"।

२२—Mattiwaza = सम्भाव्य वैदिक "मथिवाज"।

२३—Saushshatar = "सौक्षत्र"। इत्यादि।

हिन्दू-ईरानीय युग की आर्य-भाषा के कुछ शब्द

१—Maria = वैदिक "मर्य" (= योद्धा)

२—Aika = वेद पूर्वीय Aika * "अइक" वैदिक "एक"।

३—Tera = "त्रि, त्रय"।

४—Panza = "पञ्च"।

५—Satta = "सप्त"।

६—Nava = "नव"

७—Tapashshash = "तपस्"।

८—Wartanna = "वर्त्तनम्"—चक्कर देना।

६—Vasanna = "वसनम्"—रोकना।

(ये नाम और शब्द, Acta Orientalia XI i, ii, iii, इन तीनों खंडों में प्रकाशित रूसी लेखक N. D. Miranov कर्त्तृक लिखित Aryan Vestiges in the Near East of the 2nd Millenarv B. C. नामक उपयोगी प्रबन्ध से लिये गये हैं। मिरोनोफ के संगृहीत जिन नामों और शब्दों की व्युत्पत्ति पर संदेह है, वे यहाँ नहीं उद्धृत किये गये।) इस प्रकार वैदिक भाषा की साक्षात् जननी-रूपिणी किसी भाषा के उपयोग करने वाले आर्यों को खीस्ट-पूर्व लगभग २००० से १५०० में, और उसके पश्चात् भी, मेसोपोतामिया और एशिया-माइनर में हम देखते हैं।

आर्य लोग इन देशों में रहने के समय सुसभ्य Ashur असुर या

असुर (अर्थात् आसिरीय-बाबिलोनीय) जाति के प्रभाव से प्रभावित हुए। आसिरीय बाबिलोनीय जाति की बड़ी-बड़ी इमारतें, इनके (विशेषतयः आसीरीयों के) शौर्य तथा निठुरपन से आर्य लोग अभिभूत हो गये। आसिरीय रीति-नीति ने भी आर्यों पर बहुत प्रभाव डाला। भारतवर्ष में आने के पश्चात् आर्य लोगों के मन में असुर जाति के सम्बन्ध में जो स्मृति निहित थी, वह परिवर्तित होकर उत्तर कालीन हिन्दुओं में प्रचलित, यन्त्र तथा गृह-निर्माण के काम में सुदक्ष, देवता-विरोधी असुर या दानव की कल्पना में रूपान्तरित हुई।

जिन आर्य-गोत्रों ने मेसोपोतामिया में उपनिवेश नहीं किया, पर जो पूर्व की तरफ आये, वे ही पारसीक तथा भारतीय आर्यों के पूर्वज थे। पर्शु या पार्श्व, मद, शक, पार्थव प्रभृति कुछ आर्य-गोत्र पारस्य देश में ही रह गये। भारत, कुरु, मद्र, शिवि, द्रह्यु, त्रित्सु, पुरु, भृगु, प्रभृति विभिन्न गोत्र भारतवर्ष में पधारे। ऐसा अनुमान किया जाता है, कि पारस्य तथा भारतवर्ष के उत्तर पश्चिमांश में एक ही जाति के अनार्य लोग रहते थे, जो कि आर्यों द्वारा "दास" या "दस्यु" कहलाये।

भारतवर्ष के ब हर ही "दास" या "दस्यु" नाम के अनार्यों के साथ आर्यों का संघर्ष आरम्भ होना सम्भव है। इस संघर्ष की बात कुछ-कुछ वैदिक साहित्य में—ऋग्वेद में—हमें मिलती है। उसके पश्चात् धीरे-धीरे इन आर्यों के साथ मित्रता-सम्बन्ध भी होने लगा। ऐसा अनुमान होता है कि भारतवर्ष में चार प्रकार के अनार्य रहते थे। (१) Negrito नेग्रिटो या "निग्रोबटु" श्रेणी के अनार्य,—नाटा क़द, रंग खूब काला, अफ्रीका के निग्रो के समान नाक और होंठ, बाल मेष-लोम सदृश, ये लोग अधिक करके सामुद्रिक उपकूल के प्रान्त में रहते थे। यदि सभ्यता की बात कही जाय, तो इनमें उन्नत सभ्यता का कुछ भी अंश न था। मछली मारकर या जंगल में चिड़ियों या पशुओं का शिकार कर ये लोग गुजर कर रहे थे। यह

अब बिल्कुल विनष्ट हो गई है, केवल दक्षिण बिलोचिस्तान में, दक्षिण-भारत में और असम प्रान्त में इसका कुछ अवशेष अभी तक कष्ट के बचा है। सम्भावना अधिक है, कि इस जाति के लोग भारत के प्राचीनतम अधिवासी थे। (२) Austric—ऑस्ट्रिक = दक्षिण जाति—जिसके लोगों ने उत्तर-पश्चिम की राह से—मध्यम सागर के तीर के देश पालेस्तीक से भारतवर्ष में प्रवेश किया। इनका चेहरा किस प्रकार का था, यह तो हम ठीक प्रकार से नहीं जानते, ऐसा प्रतीत होता है कि ये भी कद के नाटे थे। इनकी नाक भी चपटी थी और जो बोली ये लोग बोलते थे, उसी से मध्य-भारत की 'कोल' बोलियाँ, और (असम की) खासी या, खसिया बोली उत्पन्न हुई। इनकी और शाखाएँ हिन्द-चीन, मालय देश तथा द्वीपमय भारत के द्वीप-पुञ्ज में, एवं प्रशान्त महासागर के द्वीपों में फैल गईं। भारतवर्ष में तो गंगा की उपत्यका में, तथा मध्य और दक्षिण भारत में ये लोग अधिक फैले। हिमालय-प्रान्त में भी ये थे, इसका प्रमाण भी है। धान की खेती, केला, नारियल आदि कुछ फलों का उत्पादन, तथा अनुष्ठानिक और सामाजिक जीवन में पान-सुपारी का व्यवहार—हिन्दू-सभ्यता को ये वस्तुएँ ऑस्ट्रिक जाति की देन हैं, ऐसा प्रतीत होता है। और इसके अलावा, इनमें प्रचलित धर्म-विश्वास तथा आचार-अनुष्ठान हमारे हिन्दू पुनर्जन्मवाद के अन्तराल में और हमारी हिन्दू-पूजा-पद्धतियों में तथा विवाह और श्राद्ध के बहुत अंगों में छिपे हुए रहते हैं। ऑस्ट्रिक-भाषी जनगण उत्तर-भारत के समतल प्रान्तों में इस समय हिन्दू जनता में रूपान्तरित होकर अपने पृथक् ऑस्ट्रिक अस्तित्व को भूलकर, इसकी स्मृति तक से बिछुड़ गये हैं। (३) नेग्रिटो तथा ऑस्ट्रिक के अलावा तीसरी अनार्य जाति जो आर्यागमन के पूर्व से भारत में रहती थी, वह द्राविड़-जाति है। पंडित लोग सोचते हैं कि द्राविड़-जाति दीर्घकाय, सरल-नासिक, और दीर्घ-कपाल थी। भारत के पश्चिम के देशों के लोगों के साथ इनका

संयोग या सम्बन्ध था। भारतवर्ष में आर्य लोगों के आगमन के कई सहस्र वर्ष पूर्व, पश्चिम की घाटियों की राह से इनका भारतवर्ष में प्रवेश हुआ था—ऐसा सोचा जाता है। दक्षिण भारत में इनका घनिष्ठ वास हुआ था; पर उत्तर तथा पूर्व भारत में भी इनका प्रसार हुआ था, ऐसा अनुमान होता है। वहाँ ये लोग ऑस्ट्रिक जाति के लोगों के साथ मिल-जुल कर रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ऑस्ट्रिक और द्राविड़, इन दोनों जातियों का बहुत-कुछ मिलन तथा संमिश्रण हुआ था। द्राविड़ लोग ऑस्ट्रिकों से अधिक सभ्य थे। ये बड़े-बड़े भवन, बड़े-बड़े नगर बनाते थे, हिन्दू-सभ्यता के बहुत-से बाह्य उपकरण इस द्राविड़ जाति से ही गृहीत हुए। शिव, उमा, विष्णु, श्री आदि देवताओं की विराट् कल्पनाएँ पहले-पहल द्राविड़ जाति ही में उद्भूत हुईं। योग-साधना के मूल तत्त्व तथा आचार, द्राविड़ जाति की धार्मिक चिन्ता का फल था। मोहन-जों-दड़ो तथा हरप्पा[1] की विराट् सभ्यता द्राविड़ जाति के लोगों के कृतित्व के परिचायक हैं—ऐसा प्रतीत होता है। द्राविड़ जाति के लोग आर्यों के सदृश गोपालन करते थे—गोपालन ऑस्ट्रिक जाति के रिवाज़ में नहीं था और द्राविड़ लोग सर्वप्रथम हाथी को अपने वश में लाये, ऐसा भी सम्भव है। (४) भारत की चौथी अनार्य जाति है Mongoloid या किरात जाति। भोट-चीन गोष्ठी की भाषा बोलने वाले किरात लोग, दक्षिण चीन और तिब्बत होते हुए ईसा के जन्म के सहस्र वर्ष पूर्व ही ब्रह्मपुत्र की उपत्यका, समग्र असम प्रान्त, उत्तर और पूर्व बंगाल, उत्तर-बिहार तथा हिमालय के दक्षिण के प्रदेशों में फैल गये थे। ये लोग पीले रंग के थे, कद में नाटे, चिपटी नाक वाले थे और दाढ़ी मूँछ इनमें कम होती थी। सभ्यता में ये लोग अग्रसर नहीं थे; पर भारतीय जाति की बनावट में यह किरात जाति एक प्रधान उपादान बनी।

१—स्थानीय उच्चारण हरप्पा नहीं, हड़पा है।

जब आर्य लोग भारतवर्ष में पहले आये, तब इस देश में सुसभ्य (या किसी प्रकार की सभ्यता को प्राप्त की हुई) ये दो अनार्य जातियाँ वास करती थीं। नागरिक संस्कृति का उन्मेष द्राविड़ों में हुआ था। ऑस्ट्रिक जाति की सभ्यता मुख्यतया ग्रामीण सभ्यता थी। इनके सामने नवागत आर्यों की सभ्यता घुमन्तू तथा ग्रामीण सभ्यता ही थी। आर्यों के आगमन से इस देश के प्राचीन अनार्य अधिवासियों का पूरी तौर से मूलोत्पाटन या पूर्ण विनाश नहीं हुआ। नये आये हुए आर्य और पुराने निवासी अनार्य एक दूसरे के समीप रहने लगे। अधिक करके आर्य लोगों का आगमन होना सम्भव नहीं था, फिर विजेता तथा नूतन देश में भाग्यान्वेषण के लिये आये हुए आर्यों में स्वजातीय स्त्रियों की कमी होना ही सम्भव और स्वाभाविक है। आर्य, द्राविड़, कोल या निषाद, तथा मंगोल या किरात इन चार जातियों में भावों का आदान-प्रदान और शोणित-संमिश्रण होने लगा। आर्य लोग तो विजेता थे—कम-से-कम इतना ही मानना पड़ेगा कि पंजाब प्रान्त में विजेतृ-रूप से आर्यों का प्रवेश हुआ था। आर्यों की भाषा एक शक्तिशाली भाषा थी, और आर्यों की संहित-शक्ति भी असाधारण थी। आर्यों की भाषा धीरे-धीरे प्रतिष्ठित हुई, और उनकी संहित-शक्ति के कारण अनार्यों के द्वारा यह गृहीत होने लगी। सम्भव है कि उस जमाने में द्राविड़ तथा कोल (ऑस्ट्रिक) गोष्ठी की परस्पर-विरोधी अनार्य भाषा और उपभाषा के अनैक्य के गड़बड़ के बीच, आर्य-भाषा सर्वजन-ग्राह्य भाषा बनी, और इसी से इसका फैलाव सहज हुआ—समग्र उत्तर-भारत ने अपनी पुरानी द्राविड़ी और कोल (ऑस्ट्रिक) बोलियों को छोड़ आर्यभाषा को अपनाया। आर्यों के कुछ धार्मिक अनुष्ठान और देव-देवियों को अनार्य लोगों ने स्वीकार कर लिया। फिर धीरे-धीरे अनार्यों के देवता, अनार्यों के धर्मानुष्ठान, अनार्यों के दर्शन और तत्त्वज्ञान, अनार्यों का भक्तिवाद, आर्यों के मन पर अपनी छाप

लगाने लगे। अनार्य राजा तथा पुरोहित लोग आर्य-भाषा ग्रहण करने के साथ-ही-साथ आर्य समाज (अर्थात् आर्य-भाषी समाज) में गृहीत होने लगे—एक क्रमवर्धन-शील आर्य भाषी जनता संगठित होने लगी। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह की राह से यह संमिश्रण सहज भाव से हो पाया। इस रीति से, संस्कृत भाषा जिसका वाहन था। ऐसी एक मिश्र आर्यानार्य-सभ्यता, या हिन्दू सभ्यता, आर्यों के भारतवर्ष के आगमन के थोड़े समय के पश्चात् धीरे-धीरे तैयार होने लगी।

इस उपाय से हिन्दू या प्राचीन भारत की जातीय सभ्यता के विशिष्ट रूप से विकसित होने में लगभग एक हजार वर्ष लग गये। आर्यों का भारतवर्ष में आना, उनके मेसोपोटामिया में प्रकट होने के थोड़े समय बाद ही हुआ, ऐसा अनुमान करना अनुचित न होगा। अर्थात् ईसा-पूर्व १५०० के बाद या लगभग १५०० खीस्ट-पूर्व यह घटना हुई थी। बुद्ध के समय करीब ५०० वर्ष ईसा पूर्व के आस-पास हिन्दू सभ्यता का ढाँचा बन गया। अनार्य ऑस्ट्रिक और द्राविड़ देवताओं की लीलाएँ, उनके राजाओं की प्राचीन कहानियाँ—ये सब धीरे-धीरे संस्कृत भाषा में ग्रथित होकर, आर्यों की देव-कहानियों के तथा राज-कहानियों के साथ अभिन्न सूत्र के योग से संयुक्त हो गईं, और इनको रामायण, महाभारत और पुराणों में स्थान प्राप्त हुआ। यही प्राचीन ग्रीस में भी हुआ था। सम्प्रति ऐसा एक अभिमत प्रकाशित किया गया है, कि प्राचीन काल के क्षत्रिय लोग प्रधानतया अनार्य राजन्य सम्प्रदाय के लोग थे; इस देश में स्मरणातीत आर्य-पूर्व युग से जो अनार्य राजा लोग राज करते थे, नव-जात हिन्दू-समाज में ही वे अपने पूर्व-गौरव को अक्षुण्ण रख कर क्षत्रिय रूप से गृहीत हुए। फिर ऐसा भी मत किसी विद्वान् ने प्रकट किया कि भारतवर्ष में अनार्य-संतान के झुंड यहाँ आये ही नहीं, सिर्फ आर्यों की भाषा और आर्यों के कुछ

अनुष्ठान, Culture drift अर्थात् प्रवहमान सांस्कृतिक-स्रोत के हिसाब से ईरान से भारतवर्ष में आये—मूल आर्य जाति के आदमी उतने नहीं आये; पर उनकी भाषा आयी और उनका धर्म फैला।

आर्यों की विशिष्ट उपासना-रीति का नाम "होम" है। वैदिक आर्यों के देवता लोग आकाश में रहते हैं। अग्निदेव उनके दूत या मुख-पात्र थे। वेदी बना के उस पर लकड़ी की अग्नि जला के, उसी अग्नि में इन्द्र, वरुण, पूषा, अग्नि अश्विद्वय, उषा, मरुद्गण प्रभृति देवताओं के उद्देश्य में, दूध, घी, यव की रोटी (पुरोडाश), मांस, सोमरस इत्यादि खाद्य वस्तु की आहुति दी जाती थी। देवता लोग आग के सहारे से उन वस्तुओं को प्राप्त कर प्रसन्न होते, और होमकर्त्ता को अश्व, गो, स्वर्ण, पुत्र संतान, प्रचुर शस्य आदि दान करते थे। पर "पूजा" की रीति आर्यों में चालू नहीं थी—मूर्त्ति या किसी प्रकार के देवप्रतीक पर फूल, पत्ता, चन्दन, सिन्दूर इत्यादि चढ़ाना, अक्षत, फल-फूलादि के नैवेद्य अथवा बलिदान किये हुए पशु के मुण्ड या पात्र से उसका लोहू निवेदन करना—यह सब वैदिक अर्थात् आर्य अनुष्ठान नहीं था। "पूजा" शब्द भी मूल में द्राविड़ भाषा का है, ऐसा अनुमान होता है। ये आर्य-अनुष्ठान, अनार्य देवताओं के साथ-साथ "संस्कृत" होकर हिन्दू-अनुष्ठान में परिणत हुए।

आर्य लोगों के आगमन के समय भारतवर्ष के प्राचीन अधिवासी लोग द्राविड़ और कोल आदि अनार्य बोली बोलते थे, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। आर्य लोगों के आने के और बसने के बाद बहुशत वर्ष तक ये सब अनार्य भाषाएँ जीवित थीं। बुद्ध के समय और उनके उत्तर-काल में पाँच-छह सौ साल पर्यन्त उत्तर-भारत के बहु अंश में जन-साधारण अनार्य बोलियाँ बोलते थे, ऐसा अनुमान करने के कारण बहुत-से हैं। इन अनार्य-भाषियों ने जब आर्य-भाषा ग्रहण की, तब इनके धर्म, देवता और आचार-अनुष्ठान भी आर्यीकृत हो गये, वे सर्व-जन-गृहीत हो गये; पौराणिक देववाद, भक्तिवाद इत्यादि

आ गये, और वैदिक धर्म से एक गंभीरतर, उन्नततर धर्म-जीवन आर्यानार्य-मिश्र भारतीय समाज में सृष्ट हुआ। अनार्यों के प्रधान देवता शिव, उमा, विष्णु—अनुरूप गुण के आर्य देवताओं के साथ मिलकर एक हो गये, और इस प्रकार उन्हें भी महनीय बनाया गया। अनार्य वृक्ष-देवता, यक्ष, रक्ष, नाग, और दैवी शक्ति के विकास के रूप से कल्पित पशु और पक्षियों की पूजा भी आर्यानार्य-मिश्र नव-सृष्टि हिन्दू-जाति में प्रचलित हो गई। खीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध में जब आर्यों का वैदिक साहित्य, मिश्र आर्यानार्य या हिन्दू-जाति के द्वारा प्राचीन धर्म-शास्त्र रूप से स्वीकृत हो गया, तब प्रायः सब आर्य-भाषियों ने श्रद्धा के साथ उसे ग्रहण किया। हमारी पुरोहित-श्रेणी की (ब्राह्मणों की) प्रतिष्ठा इसी समय हुई। वेद गृहीत होने का एक मुख्य कारण यह था, कि वेद पहले युग के विजेता शक्तिमान आर्यों का शास्त्र या प्राचीन साहित्य एवं आदरणीय वस्तु था। वेद माने जाने के और ब्राह्मणों का प्राधान्य स्वीकृत होने के बाद, अनार्य-भाषाओं की प्रतिष्ठा होना फिर संभव न था; परन्तु अनार्य-भाषाओं ने इतनी जल्दी अपना स्थान नहीं छोड़ा। अनार्य शब्द बहुत कुछ आर्य प्राकृत तथा संस्कृत के भीतर आ गये, अनार्य-चिन्ता-रीति आर्य-भाषा संस्कृत और प्राकृत में भी आ गई। ईसा के जन्म के डेढ़ सौ वर्ष पहले, कलिङ्ग के जैन-धर्मावलम्बी राजा खारवेल का जो ब्राह्मी अक्षरों में खुदा हुआ प्राकृत भाषामय विराट् अनुशासन है, उसे पढ़कर किसी को संदेह तक भी नहीं हो सकता है कि राजा का नाम आर्य-भाषा का नहीं, वरन् द्राविड़ भाषा का है। द्राविड़ "कार" शब्द का अर्थ "काला" या "कृष्ण", और "वेल्" शब्द का अर्थ "भाला" या "बल्लम"—मूल "कारवेल", जिससे शायद "खारवेल" निकला है, उसका संस्कृत अनुवाद हो सकता है "कृष्णर्ष्टि" (अर्थात् कृष्ण या भयानक ऋष्टि या बल्लम है जिसका)। दक्षिणात्मक अन्ध्रवंशीय राजा लोग खीस्टीय युग के प्रारम्भ में राज्य करते थे, इनके प्राकृत-

भाषा में लिखे हुए बड़े-बड़े अनुशासन हैं। इनके गोत्र नाम इस प्रकार के होते थे—"वाशिष्ठीपुत्र, गोतमीपुत्र, मढरीपुत्र", इत्यादि। परन्तु इनका वंश-नाम "सातवाहन" आर्य-भाषा का शब्द नहीं; यह शब्द कोल भाषा का है, और इसका अर्थ "अश्वपुत्र" है। जैसे केरल की नायर आदि जातियों में अभी तक दीखता है, वैसे इनमें भी मातृकुलगत उत्तराधिकार की रस्म थी, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी फुटकर सूचनाओं से हमें आभास मिलता है कि दो-ढाई हजार वर्ष पहले, भारतीय जीवन में अनार्य उपादान कितने प्रबल थे, और आर्य-प्रभाव कितना छिछला था।

भारतीय हिन्दू सभ्यता का वयः पूर्व निर्दिष्ट इतिहास के अनुसार बहुत अधिक प्रतीत नहीं होगा। इस बात से हम बहुत-से सज्जनों के जात्याभिमान तथा आत्माभिमान पर चोट लगेगी। आर्यों के आने के पूर्व अनार्य द्राविड़ तथा कोल लोगों का इतिहास जरूर ही था, उसकी बहुत कुछ बातें कुछ रूपान्तरित आकार में संस्कृत पुराणों में रक्षित हुई हैं। आर्य लोगों के आते ही हिन्दू जाति के रूप-ग्रहण में विशेष रूप से सहायता पहुँची। आर्य और अनार्य का पूर्ण समन्वय हुआ। ईसा-पूर्व पहले सहस्रक के द्वितीयार्ध में, हिन्दू-जाति तथा सभ्यता के इतिहास में मोटी रीति से दो युग गिने जा सकते हैं— एक, यज्ञ के प्राधान्य का युग, और दूसरा पौराणिक देवताओं के प्राधान्य का युग। सचमुच ईसा-पूर्व १००० से हिन्दू-सभ्यता की प्रतिष्ठा का आरम्भ हुआ। आर्य और अनार्य इन दोनों विभिन्न रंगों के सूत्रों से हिन्दू-सभ्यता-रूप धूप-छाँह वस्त्र, इसी समय से तैयार होने लगा। खीस्ट-जन्म के बाद १००० वर्षों तक इस सभ्यता का सबसे महत्त्वपूर्ण समय था। संसार की और प्राचीन सभ्यताओं के साथ अगर तुलना की जाय, तो वय के हिसाब से हमारी हिन्दू-सभ्यता मिस्री, बाबिलोनीय और ईजियन सभ्यताओं से बहुत आधुनिक है; कुछ अंश में प्राचीन ग्रीक और प्राचीन पारसीक तथा प्राचीन चीनी

सभ्यताओं की समकालीन है ; पर ग्रीक सभ्यता अपनी विशिष्ट मूर्ति को ईसा-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्ध ही में प्राप्त कर चुकी थी ; और चीनी सभ्यता ने अव्याहत गति से लगभग खीस्ट-पूर्व २,००० से आरम्भ कर खीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्ध में अपने परिणत रूप को प्राप्त कर लिया था। हमारी प्राचीन हिन्दू-सभ्यता की रोमन (Roman) तथा ग्रीको-रोमन (Graeco-Roman) युग की सभ्यता के साथ और चीन के हान् (Han) तथा थाङ्ग-वंश (T'ang) के युग की सभ्यता के साथ हम तुलना कर सकते हैं।

हिन्दू-सभ्यता के अति-प्राचीनत्व के विषय पर जिनकी आस्था है, वे ज्यौतिषिक प्रमाण लाकर इसे सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। इस मामले में हम केवल दो बात कहना चाहते हैं। पहले—ग्रीक लोगों के साथ परिचय होने के पश्चात् हिन्दू ज्योतिष ने पुष्टता को प्राप्त किया ; वेद-संहिता तथा ब्राह्मणादि प्राचीन ग्रन्थों में जो ज्यौतिषिक उक्तियाँ या उल्लेख हैं, किस अर्थ से उनका विवेचन किया जायगा, इस विषय पर काफी मतभेद है। दूसरे—जो महाशय इन ज्यौतिषिक प्रमाणों का ऐतिहासिक आलोचना में उपयोग करते हैं, उनमें ऐकमत्य नहीं ; इसी से सिद्ध होता है, कि युक्ति-तर्कानुमोदित विचार-शैली का जो एकमात्र पन्थ है, सो हमें एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा देगा—उसे इस ज्यौतिषिक विवेचन में स्थान नहीं मिलता। ज्यौतिषिक व्याख्या या सिद्धान्तों से जो अतिप्राचीन तारीखों की बात हम कभी-कभी सुनते हैं, उनके विरुद्ध इतने अन्य विषय हमारे सामने लाये जाते हैं, जिनके सामने हम इन विभिन्न व्याख्या या सिद्धान्तों में से किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकते।

रामायण, महाभारत, पुराणों में दिये हुए सूर्य तथा चन्द्रवंशीय राजाओं की तालिका—इन सब की ऐतिहासिकता पर बहुत से अनुसन्धान हो चुके हैं। जो लोग यथारीति प्राचीन इतिहास की आलोचना करते हैं, उनमें कोई भी रामायण कहानी की किसी प्रकार की

ऐतिहासिकता नहीं मानते। वे केवल इतना ही मानते हैं, कि महाभारत के मूल आख्यान में और महाभारत तथा पुराणों के कुछ उपाख्यानों में कुछ ऐतिहासिकता हो सकती है। कुरुक्षेत्र-युद्ध ईसा-पूर्व दशम शतक में हुआ था, ऐसा अभिमत दो विशिष्ट ऐतिहासिकों ने (अंग्रेज F.E. Pargiter एफ० ई० पार्जिटर L.D. Barnett एल० डी० बार्नेट ने, और भारतीय हेमचन्द्र राय चौधरी ने) प्रकट किया। इनकी आलोचना-शैली उपेक्षा करने की नहीं। महाभारत के पात्र तथा पात्रियों के सम्बन्ध में इतना तक हम कह सकते हैं, कि वे आर्यागमन के पूर्वकाल के लोग हो सकते हैं, महाभारत का मूल आख्यान अनार्य राजाओं की कहानी भी हो सकती है,—फिर नवागत आर्य-जाति के लोगों से अनार्यों के मिश्रण और भाषा में उनके आर्यीकरण के साथ ये सब उपाख्यान भी परिवर्तित हुए, पल्लवित हुए, और अन्त में इससे हमारा संस्कृत महाभारत बन गया। ईसा के जन्म के आस-पास के किसी समय अर्यानार्य-मिश्र हिन्दू-जाति की एक जातीय सम्पत्ति के रूप से अनार्य तथा आर्यों के प्रागितिहास और विचार का भांडार-स्वरूप यह महाग्रन्थ मान्य हो गया।

एशिया की आध्यात्मिक एकता

लगभग ४४ वर्ष पहले, जब अविचारपूर्ण साम्राज्यवादी दलदल में जापान की आत्मा नहीं धँसी थी, जापान के सर्वश्रेष्ठ चिन्तानेता काकूजो ओकाकुरा ने The Ideals of the East ('पूर्व के आदर्श') नामक एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था, जिसमें यह बताया गया था कि एशिया अपना सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पुनर्जीवन किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। प्रकृति और मनुष्य ने जितनी विभिन्नताएँ एशिया में खड़ी कर रखी हैं, उनको देखते हुए ओकाकुरा की पुस्तक का प्रारम्भिक वाक्य बड़ा अजीब-सा लगता है। पुस्तक का पहला वाक्य है—Asia is one "एशिया एक है।" यों जाहिरा देखने में एशिया की अपेक्षा यूरोप में सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से एक एकाई दिखायी देता है। वहाँ इबरानी और यूनानी सभ्यताओं के समन्वय पर खड़ी की हुई एक ही "ईसाई" सभ्यता है, जिसके पैटर्न में हैलेनिक, रोमानिक, जर्मेनिक, केल्टिक, स्लाव, मजर और यूरालिक जातियाँ बनी हुई हैं; जब कि एशिया भिन्न-भिन्न जातियों और संस्कृतियों का एक समूह लगता है—जिनमें तीव्र विभिन्नता की दृष्टि से तीन प्रमुख हैं—भारतीय या हिन्दू, चीनी, अरब या इसलामी।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जातियों और संस्कृतियों की दृष्टि से एशिया में यूरोप की अपेक्षा कहीं अधिक विभिन्नता है। मङ्गोल, तातार, हिन्द-चीनी, इन्दोनेशिया या द्वीप भारत के अधिवासी स्यामी, बर्मी, भारतीय, ईरानी, अरब इत्यादि—सब एक दूसरे से रहन-सहन, बोल-चाल, जाति और संस्कृति की दृष्टि से बिलकुल भिन्न दिखायी देते हैं; किन्तु बावजूद इस विभिन्नता के

उनमें एक बुनियादी एकता है। वे समझते हैं कि वे एक ही मानव-कुटुम्ब के सदस्य हैं। मानवता की यह भावना एशिया से अधिक और कहीं व्याप्त नहीं है। ओकाकुरा ने स्वयं लिखा है—" अरबों का शौर्य, ईरानियों की कविता, चीनियों की नैतिकता, भारतीयों के उन्नत-विचार—सब एक स्वर से एशियाई शान्ति की कामना करते हैं। इन्हीं विशेषताओं के भीतर एशियाई उद्यान में खिले हुए भाँति-भाँति के सुगन्धित पुष्पों की भाँति ; किन्तु एक अत्यन्त आकर्षक सुगंधि उत्पन्न करनेवाले ये गुण—एक मिली-जुली मानवता तैयार कर रहे थे। स्वयं इसलाम को हम घोड़े पर चढ़े हुए, तलवार हाथ में लिये हुए (चीनी) कन्फ्यूसियन् धर्म कह सकते हैं। बौद्ध-धर्म आदर्श का एक महासागर है, जिसमें पूर्वीय विचार-धारा की भिन्न-भिन्न नदियाँ मिली हैं। वह केवल पवित्र गंगा जल का द्वीप नहीं है, क्योंकि उसमें सहायक नदियों के रूप में तातार देश भी मिले थे। और अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं द्वारा उन्होंने बौद्ध-धर्म के भांडार को नये संगठन नयी शक्ति, पूजा-विधि और नयी भक्ति से मालामाल किया है।" ओकाकुरा एशिया की समस्त सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत के सम्पूर्ण समन्वय का प्रतीक अपने देश जापान को मानता था ; और इसमें कोई संदेह नहीं, ओकाकुरा की बात में सचाई थी, क्योंकि जब हम यह देखते हैं कि जापान ने अपनी सर्वश्रेष्ठ उन्नति का आधार एशियाई संस्कृति की दो प्रमुख बातों को बनाया—एक चीनी विद्वत्ता और दूसरी भारतीय बुद्धि—चीनी कलात्मक अभिव्यञ्जना और भारतीय अध्यात्म।

भारत एशिया का केन्द्र है, जहाँ भिन्न-भिन्न जातियों, धर्मों, विचार-धाराओं के लोग मिल-जुल कर रहते हैं। भारत आध्यात्मिक आदर्शवाद का बहता हुआ एक ऐसा गहरा चश्मा है, जिस पर सभी उतार-चढ़ाव का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। इस दृष्टि से हम भारत को विभिन्नता में एकता पैदा करनेवाला, एशिया की धुरी कह सकते

हैं। यदि शारीरिक दृष्टि से नहीं तो कम-से-कम अपनी मानसिक और आध्यात्मिक बनावट में एक भारतीय अपने को उन समस्त जातियों का उत्तराधिकारी और वंशज समझता है, जो प्राचीन काल और मँझले जमाने में भारत में आयी और मिल-जुल गयी। इस दृष्टि से वह समस्त संसार में सबसे अधिक विश्व-नागरिक है। अत्यंत प्राचीन निग्रो संस्कृति के चिह्न यहाँ मिलते हैं, जबकि मानव वृक्षों के कोटर में रहते थे और पशु-पालन और काश्तकारी की परवाह न रख कर सहजलभ्य कन्दमूल, कीड़े और पशु-पक्षी-मत्स्य आदि शिकार लब्ध प्राणी का मांस खाते थे। बहुत संभव है कि इन लोगों की भाषा के शब्द अब भी हमारी आर्य और द्राविड़ भाषाओं के भीतर मौजूद हों। इनके बाद प्रोटो-आस्ट्रेलाइड या "निषाद" जाति भारत में आयी। यह जाति हिन्द-चीन, इन्दोनेशिया और प्रशान्त महासागर के दूसरे द्वीपसमूहों में बसती थी। इनके रक्त और संस्कृति भारतीयों में विद्यमान हैं। इस तरह प्रागैतिहासिक काल में भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया का सम्बन्ध होता है और भारतीय संस्कृति के अन्दर दक्षिण-पूर्व एशिया संस्कृति की मूल रूप-रेखा वर्त्तमान हैं। इसके पश्चात् द्राविड़ भाषी जातियाँ पश्चिम की ओर से भारत में आयीं। ये द्राविड़-भाषी लोग संस्कृति और भाषा की दृष्टि से एशिया-माइनर और भूमध्य-सागर के आस-पास रहने वालों से सम्बद्ध थे। इसके पश्चात् आर्य-भाषा-भाषियों ने भारतीय सभ्यता को अन्तिम रूप से सजाया और सँवारा। इन आर्य-भाषा-भाषियों के द्वारा भारत का आध्यात्मिक और मानसिक सम्बन्ध ईरान और यूरोप की इण्डोयूरोपियन से कायम हुआ। ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व चीनी और तिब्बती भाषाएँ बोलने वाली "किरात" या मंगोल जातियाँ हिमालय की तराई पर उत्तरीं और उन्होंने नैपाल, उत्तरी बिहार, उत्तरी और पूर्वी बंगाल और असम की सभ्यता और इतिहास को बहुत प्रभावित किया। इन लोगों के द्वारा भारत का मध्य-एशिया, चीन और उत्तरी हिन्द-चीन से

सम्बन्ध स्थापित हुआ। और इसलाम के आगमन के पश्चात् हमारा देश अरब और रोमीय देशों की संस्कृति के साथ अन्तिम रूप से जुड़ गया। भारत की निग्रो-ऑस्ट्रिक द्राविड़ी-मंगोली-आर्य-या निषाद किरात-द्राविड़-आर्य-संस्कृति पर अरब की इसलामी संस्कृति ने कई बातों में बहुत बुनियादी असर डाला।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की एक प्रसिद्ध कविता है, जिसकी पहली दो पंक्तियाँ हैं--

हे मोर चित्त, पुण्यतीर्थे जागोरे धीरे,
एई भारतेर महामानवेर सागर तीरे!

"ऐ मेरे चित्त! समस्त मानवता के इस भारत रूपी-सागर में, इस पुण्यतीर्थ में धीरे से जागो।"

रवीन्द्रनाथ की यह कविता बङ्गाल में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें कविश्रेष्ठ भारत के उस विशेष कर्तव्य की ओर इङ्गित करते हैं, जिसके लिए भारत समस्त संस्कृतियों और जातियों का समन्वय-केन्द्र होने के कारण उत्तरदायी है। ईसा-पूर्व पहली अर्थात् सहस्राब्दी से, जब से भारत अनार्य (निषाद अर्थात् ऑस्ट्रिक, दास-दस्यु अर्थात् द्राविड़ तथा किरात अर्थात् मंगोल) और आर्य जातियों का समन्वय-केन्द्र बना, तब से भारत ने "विभिन्नता में एकता" के महान् आदर्श को अपने जीवन में सुप्रतिष्ठित कर लिया। इसी एकता के आदर्श की ईसा से ५०० वर्ष पूर्व चीनवालों ने "ताओ" धर्म के माध्यम से प्राप्त कर लिया था। इसके पश्चात् इसी एकता-बोध को इसलाम के अरब ईरानी, भारतीय और तुर्क रहस्यवादी सूफियों ने अत्यन्त सुन्दर और भ्रामक कविताओं द्वारा प्रकट किया और इस एकता-बोध द्वारा एशिया के विभिन्न धर्मों और जातियों को एक मञ्च पर लाकर खड़ा कर दिया।

इस एकता-बोध के भिन्न-भिन्न पहलुओं को भिन्न-भिन्न भाषाओं

द्वारा प्रकट किया गया है। इन विविध भाषाओं में व्यक्त किये हुए विचार केवल उसी भाषा की सीमा तक सीमित नहीं रहे। उन्होंने अपनी राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त किया। इन विविध भाषाओं के साहित्यों में प्रकट किये हुए विचार अन्तर्राष्ट्रीय निधि बन गये। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने इसी अवसर पर कहा था—

"धर्म अपनी विभिन्नता और बुनियादी ध्येय में भाषाओं की तरह है।"

और हम जो समस्त मानव प्रयत्नों में, समस्त धर्मों में एक बुनियादी एकता देखते हैं, इस कथन की पुष्टि करेंगे। उपनिषद्, चीनी ताओ-तेह-किङ्ग, धम्मपद, भगवद्गीता, महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र, इबरानी "थोराह" या "तौरत", ईसाई इञ्जील, इसलामी कुरान और हदीस, अरब और ईरानी सूफियों की कविताएँ, मध्यकालीन हिन्दू संतों के भजन, दक्षिण भारत के तमिल अलवार (वैष्णव भक्त) और सितार (शैव संत और सिद्ध) और उत्तर भारत के संत, भक्त और साधकों के पद और रचनाएँ, रामायण, महाभारत, शाहनामा, अलिफ-लैला जैसे महाग्रन्थ, चीनी प्रकृति-काव्य की पुस्तकें, मध्यकालीन जापानी छायावादी उपन्यास, प्रभृति साहित्यिक और धार्मिक ग्रन्थ, विविध युगों और विविध देशों की साहित्यिक, मानसिक और नैतिक भावनाओं के सर्वश्रेष्ठ फल हैं। जिन विविध भाषाओं में ये विचार व्यक्त किये गये हैं, उन भाषाओं की परिधि के पीछे एक समानता की भावना से ये विचार ओत-प्रोत हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा और संस्कृति में ये विचार गूँथे गये हैं और मानवता के इस संगीत की सुन्दर राग-रागनियाँ भारत के ब्राह्मण और बौद्ध-साहित्य चीन के "ताओ" साहित्य, अरब और ईरान के सूफी-साहित्य और और जापान के बौद्ध और शिन्तो साहित्य द्वारा झंकृत की गई हैं।

एशिया की जो भाषाएँ अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और सांस्कृतिक

समन्वय के काम में बहुत बड़ी शक्तिशाली सिद्ध हुईं, वे ये हैं—संस्कृत, चीनी और बाद में फारसी। संस्कृत, चीनी और यूनानी—ये तीनों प्राचीन भाषाएँ अपनी मौलिकता, अपनी बौद्धिकता और अपनी आध्यात्मिकता के कारण समस्त मानवता के लिए एक रिक्थ या विरासत हो गईं। बाद में, मध्यकालीन युग में, अरबी ने अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान और अनुशासित जीवन के क्षेत्र में, विशेषकर पश्चिमी एशिया और अफरीका में, बहुत महत्त्वपूर्ण काम किया। किन्तु इसलाम जिन आदर्शों को लेकर खड़ा हुआ था, उनका व्यापक प्रतिपादन भारतवर्ष में बजाय अरबी के फारसी ने किया। संस्कृत, यद्यपि गंगा-काँठे की ब्राह्मणी सभ्यता के प्रचार का वाहन थी, फिर भी भारत के बाहर बरमा, विएत्-नाम या इन्दो चीन, इन्दोनेसिया या द्वीप-भारत सेरिन्दिया या प्राचीन मध्य एशिया में उसने नया घर बना लिया; और जब बौद्ध-धर्म चीन गया और वहाँ से एक ओर कोरिया और जापान पहुँचा और दूसरी ओर अनाम तक, इन देशों की जनता में संस्कृत ने एक सहानुभूति-सूचक भावना पायी।

चीन की युगों की पुरानी सभ्यता भी मौलिक सभ्यता है। चीनी सभ्यता मानव की अमर कृतियों में से एक है; किन्तु चीन को भी अपने उन्नत सामाजिक दर्शन को और अधिक परिपूर्ण करने में बौद्ध-धर्म से बड़ी मदद मिली। उसे बौद्ध-धर्म के अन्दर अपनी गहरी-से-गहरी आध्यात्मिक और धार्मिक भावनाओं को परिपुष्ट करने के लिए, जो कि Lao-Tze लाओ-त्जे और उनके शिष्यों द्वारा काफी उन्नत की जा चुकी थी, एक बड़ा साधन मिला। भारतीय, बौद्ध और ब्राह्मण विचार-धारा की वाहन संस्कृत भाषा भी चीन के लिए उपयोगी सिद्ध हुई।

संस्कृत ने चीनी दर्शन के क्षेत्र में काफी काम किया। संस्कृत से प्रभावित होकर चीनी भाषा-शास्त्रियों ने चीनी भाषा में बहुत-से संस्कृत शब्दों को शामिल कर लिया। आधुनिक चीनी उच्चारण

रीति के कारण, इन संस्कृत शब्दों का पता लगाना कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव काम है। चीनी उच्चारण-शैली के अनुसार परिवर्तित होकर ये शब्द अब चीनी भाषा के अभिन्न अंग बन गये हैं। लगभग ईसा के जन्म के समय "बुद्ध" का नाम चीनी भाषा में आया। तब से अन्य भाषाओं की तरह चीनी भाषा में परिवर्तन हुए। प्रारम्भ में इस संस्कृत शब्द को चीनी लोग "बुध" कहते थे। फिर शताब्दियों के क्रम में उसमें इस तरह परिवर्तन होते गये ; जैसे—"बुध्, भ्वुद्, भ्युअद्, भुत्, भुर्, भ्वन्" इत्यादि। अब चीन की विविध बोलियों में इस शब्द को "फु, फ़ो, फ़्वात", और "फ़ात" कहते हैं। मूल "बुद्ध" शब्द से यह परिवर्तन ज़मीन आसमान का परिवर्तन है। चीनी लोग संस्कृत शब्दों का अपनी भाषा में अनुवाद कर लेते थे ; जैसे—

तथागत = भू-लाइ = "उधर गए हुए";

अश्वघोष = मा-हेङ्ग = घोड़े की आवाज ;

अवलोकितश्वर = कुआन-यिन = "सुनना या देखना स्वर" ;

हमारी संस्कृत, अत्यन्त सुसंस्कृत चीनी भाषा को बहुत अधिक प्रभावित न कर पायी, किन्तु उन लोगों को, जो चीनियों जैसे सुसंस्कृत नहीं थे, जैसे मध्य-एशिया, हिन्द-चीन तथा इन्दोनेसिया के देश, वहाँ संस्कृत स्थानीय भाषाओं की बड़ी बहिन बन गई। संस्कृत के ही प्रभाव से प्राचीन मध्य-एशिया की भाषाएँ (प्राचीन खोतानी, सोग्दी और तुषार या तोखारी), तुरकी, मंगोल, तिब्बती, इन्दो-चीन की मान या तलैङ्ग, ख्मेर या कम्बुजी, चाम, बर्मी और थाइ, और इन्दोनेसिया की जावी, बालिभाषा, सुन्दाभाषा, मदुरी, मलाय और फिलिप्पाइन की भाषाएँ (जैसे विसायान और तागोलोग आदि), काफ़ी उन्नति करके उन प्रान्तों के मानव के अनुभव और उनकी भावना को, साहित्य और कविता को विचार और विज्ञान को अधिक समृद्ध बनाया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के इतिहास के क्षेत्र में

संस्कृत ने अभूतपूर्व काम किया है, और यदि उस पर अनुसन्धान किया जाय, तो काफी सामग्री मिल सकती है।

संस्कृत की तरह चीनी ने भी अपने पूर्वीय और दक्षिणी पड़ोसियों को काफी प्रभावित किया। इनमें कोरियन, जापानी, दक्षिणी अन्नमी (विएत्-नामी) प्रमुख हैं। हम आज बिना चीनी के जापानी साहित्य, यहाँ तक कि जापानी भाषा तक की कल्पना नहीं कर सकते। जापानी संस्कृति भी सार रूप में चीनी है। केवल यामात या मौलिक जापानी जाति की भावना ने उसे अपना विशेष रङ्ग-रूप दे दिया है। जापानी संस्कृति का अधिकांश कुछ तो सीधा चीन से लिया गया है, और कुछ चीन के माध्यम द्वारा भारत से लिया गया है। कोरिया और विएत्-नाम की भाषाएँ और संस्कृतियाँ भी चीन के अन्तर्गत बनी। वास्तव में, पूर्व और दक्षिणी-पूर्व और मध्य-एशिया में चीन और भारत के सम्मिलित प्रयत्नों से स्थानीय जनता अपनी विशिष्ट भावनाओं की उन्नति के शिखर तक पहुँच सकी। और इन दोनों देशों के लिए अक्षय गौरव की बात यह है कि इन्होंने इन पड़ोसी देशों को शान्ति के मार्ग द्वारा उन्नति के शिखर तक पहुँचाया यद्यपि कहीं-कहीं चीन ने युद्ध या बलप्रयोग का मार्ग लिया था। यह समस्त उन्नति इन राष्ट्रों ने अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के माध्यम से की।

भाषातत्त्व की दृष्टि से अरबी भाषा, इबरानी, फोनीशियन, असुरी और बाबुली से सम्बद्ध है। विजेता इसलाम अरबी कुरान के साथ विविध देशों में गया और इस कारण अरबी की भी प्रतिष्ठा कायम हुई। मध्यकालीन युग में अरबी एशिया और यूरोप के बीच आपसी सम्बन्ध की माध्यम बन गई थी। केवल मुसलमानों को ही नहीं, बल्कि अन्य धर्मावलम्बियों को भी अरब से विज्ञान, अनुसन्धान, दर्शन आदि के अध्ययन के लिए प्रोत्साहन मिला। इसमें स्पेन और सिसली प्रमुख हैं। किन्तु अरबी का सबसे अधिक प्रभाव ईरान पर पड़ा। अरबी ने उसकी आत्मा ही बदल दी। इसलाम ग्रहण

करने के पहले, ईरान ने ज़रथुस्त्र और मानी के दर्शन के प्रचार का काम हाथ में लिया था—सत्यम्, शिवम्, और सुन्दरम् की उपासना का काम। १००० ईसवी के बाद मुसलमान ईरान ने पूर्वी और पश्चिमी तुर्की, भारतियों और सुदूर इन्दोनेसिया के लोगों को काफी प्रभावित किया।

आज एशिया की जनता हर जगह अपने महान् कर्तव्य के प्रति सजग हो रही है। अब उसे भ्रातृत्व में बाँध कर मानवता के कल्याण के लिए लग जाना चाहिए। भगवद्गीता में भगवान् ने कहा है—

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्या न च प्रियः"

अर्थात् मैं समस्त प्राणियों के लिए एक समान हूँ, न मैं किसी से द्वेष करता हूँ और न कोई मुझे विशेष रूप से प्रिय है।

यही भावना अत्यन्त सादगी और सुन्दरता के साथ इन्दोनेसिया के जनतंत्र के विधान में व्यक्त की गई है, जिसमें लिखा है—"इन्दोनेसिया का जनतंत्र ऐसे ईश्वर के विश्वास पर अवलम्बित है, जो समस्त मानव जाति का ईश्वर है।"

लेखक की प्रकाशित पुस्तकों की सूची

"क" अंग्रेजी

1. Origin and Development of the Bengali Language, 2vols The University of Calcutta, 1926
2. Bengali Self Taught, London, 1926
3. A Bengali Phonetic Reader
   The University of London Press, 1926
4. Indo-Aryan and Hindi
   Gujerat Vernaculer Society, Ahmedabad, 1942
5. Languages and the Linguistic Problem
   Oxford University Prese, 1943.
6. Kirat-Jan-Kriti + The Contribution of the Mongoloid Peoples to Hindu History and Culture (in press) The Royal Asiatic Seciety of Bangal. Calcutta
7. The National Flag and other Essays.
   Mitra and Ghosh, Calcutta.

"ख" बंगला

१—बांगाला भाषातत्त्वेर भूमिका।
  "कलकत्ता विश्वविद्यालय" पंचम संस्करण चालू है।

२—जाति साहित्य ओ संस्कृति।
  "मित्र ओ घोष कलकत्ता" तृतीय संस्करण।

३—पश्चिमेर यात्री "यूरोप १९३५"।
  "मित्र ओ घोष कलकत्ता" द्वितीय संस्करण।

४—द्वीपमय भारत।
  "बुक कम्पनी लिमिटेड कलकत्ता"

५—भाषा प्रकाश बांगला व्याकरण।

"कलकत्ता विश्वविद्यालय" इसके तीन संस्करण निकले हैं, अब "संक्षिप्त भाषा प्रकाश बांगला व्याकरण" रूप से चालू है।

६—चंडीदास पदावली।

पँचमखंड-बंगीय साहित्य परिषद् से प्रकाशित "हरे कृष्ण मुखुर्ज्या साहित्य रत्न" के साथ मिलित भाव से संपादित।

७—वैदेशिकी।

विदेशी जातीय उपाख्यानों तथा देव कहानियों का संग्रह।

बेंगल पब्लिशर्स, कलकत्ता, द्वितीय संस्करण।

८—भारतीय भाषा ओ भाषा समस्या।

विश्वभारती ग्रंथालय, द्वितीय संस्करण।

९—योरोप भ्रमण १९३८, (दो खंडों में)

मित्र ओ घोष, कलकत्ता।

१०—भारत संस्कृत "निबन्धों का संग्रह,

मित्र ओ घोष, कलकत्ता।

"ग" हिन्दी

१—राजस्थानी भाषा "तीन भाषण"

राजस्थान विश्वविद्यापीठ उदयपुर, मेवाड़ राजस्थान। रत्नाकर पारितोषिक प्राप्त।

२—भारत की भाषाएँ और भाषा की समस्याएँ (हिन्दी)

हिन्दी-भवन, प्रयाग।

३—आर्य-भाषा और हिन्दी

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि० इलाहाबाद।

इनके अलावा कुछ पाठ्य पुस्तकें भी हैं।

अंग्रेजी, बंगला तथा हिन्दी में भाषातत्त्व, साहित्य, संस्कृति, इतिहास आदि विषयों पर बहुत बिखरे हुए निबन्ध हैं।